



संविधान, भरोसा और समाज

अर्थ और भारत के लिए इसकी आवश्यकता

एक निबंध

सचिन कुमार जैन

गुरुशरण सचदेव

विकास संवाद

संविधान, भरोसा और समाज

अर्थ और भारत के लिए इसकी आवश्यकता

एक निबंध

सचिन कुमार जैन

देश और समाज के सुचारु रूप से काम करने के लिए यह आवश्यक है कि परस्पर विश्वास का माहौल हो। नागरिक और शासन व्यवस्था परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं, और यह रिश्ता तभी फलदायी हो सकता है जब यह आपसी विश्वास की डोर से बंधा हो। कई बार संबंधों को खुली आंखों से देख पाना मुश्किल होता है लेकिन वे भरोसे पर टिके होते हैं जो साधारणतया नजर नहीं आता। इस भरोसे का कम होना या खत्म होना एक राष्ट्र के रूप में गंभीर विफलता का कारण बन सकता है।

यह भारत का संविधान है जो सामाजिक सद्भाव के मूल्यों का पालन करने का जनादेश प्रदान करता है। इसके लिए आवश्यक है कि नागरिक, समाज और शासन व्यवस्था देश और समाज की व्यापक भलाई पर केन्द्रित होते हुए सतत रूप से अपने बीच पारस्परिक भरोसा कायम करें।

शीर्षक

संविधान, भरोसा और समाज
(अर्थ और भारत के लिए इसकी आवश्यकता)

लेखक

सचिन कुमार जैन और गुरुशरण सचदेव

प्रकाशक

विकास संवाद

वर्ष

2024

संपर्क

ए-5, आयकर कालोनी, जी 3, गुलमोहर, भोपाल. 462039. मध्यप्रदेश. भारत

ईमेल

office@vssmp.org

वेबसाइट

www.vssmp.org & www.samvidhansamvad.org

मुख पृष्ठ के चित्र का स्रोत

मुख पृष्ठ का चित्र गैर-वाणिज्यिक उपयोग के लिए Double Love by DebiJeen Pencils
- <https://bestrodeet.life/> से लिया गया है.

अस्तित्व का डीएनए और साधना का मार्ग

- एक जीवित प्राणी होने का मतलब क्या हो सकता है?
- निश्चित रूप से चेतना का होना।
- चेतना के होने का मतलब क्या हो सकता है?
- निश्चित रूप से जिज्ञासा का होना। गहराई से विचार करने की प्रवृत्ति होना।
- जिज्ञासा के होने का मतलब क्या होता है?
- निश्चित रूप से यह प्रश्न पूछना कि जो घट रहा है, वह क्यों घट रहा है। जो कहा या किया जा रहा है, उसके मंतव्य यानी मंशाएं क्या हैं?
- गहराई से विचार करने की प्रवृत्ति का महत्व क्या है?

इसका महत्व यह है कि हम किसी भी घटना या बात के सन्दर्भ और पृष्ठभूमि को जान पाते हैं। जब तक सन्दर्भ को न जाना जाए, तब तक किसी भी निष्कर्ष या स्पष्ट समझ तक पहुंचना संभव नहीं हो सकता है। जब बिना सन्दर्भ को जाने हम निष्कर्ष तक पहुँचते हैं, तब विद्वेष भी पैदा हो सकता है। तब हम एक दूसरे को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इसकी परिणति हिंसा और टकराव तक में हो जाती है।

अगर हमें प्रकृति को भी सचमुच महसूस करना हो तो उस पर भी गहनता से विचार करना होगा है। गहराई से विचार करने को ही तो 'साधना' कहते हैं। साधना यानी किसी विषय या लक्ष्य को साध लेना। साधना के अपने-अपने तरीके हो सकते हैं। गहराई से विचार करना, जानना, अपने आप से संवाद करना, तर्क करना, परीक्षण करना ही तो साधना के आयाम होते हैं।

यह बेहद अजीब सी बात है कि जो आदर्श प्रतीक चाहे वे पैगम्बर मुहम्मद हों, महावीर हों, बुद्ध हों, कृष्ण हों, कबीर हों, गुरु नानक हों या रैदास; वे सभी अपने विवेक, अपनी जिज्ञासा, अपने भीतरी संवाद से निर्मित हुए। लेकिन इनका अनुयायी, इन्हें मानने वाला समाज उनके अपने तरीकों को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है। हम लक्ष्य की तरफ तो देखते हैं, लेकिन यात्रा और प्रक्रिया को नज़रअंदाज़ करते हैं।

आत्म-बोध से विमुख करती अस्तित्व को बचाए रखने की सोच

हमारे समाज में हमेशा से ज्यादातर लोग अपने अस्तित्व को बचाए रखने को ही जीवन मानते हैं। उनके लिए अस्तित्व का मतलब होता है - कुछ पूँजी अर्जित करना, कोई पद, कोई सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करना, अपने पेशे में अपना स्थान बनाये रखना और सत्ता व्यवस्था या कहें कि शासन व्यवस्था की नज़र से अपने आपको बचाए रखना। इस तरह अस्तित्व को बचाए रखने का लक्ष्य उन्हें जिज्ञासा को संभालने नहीं देता है। अस्तित्व को बचाए रखने और डर के साथ पूरा जीवन जीने के बीच वास्तव में कोई अंतर नहीं होता है। और यही कारण है कि ज्यादातर लोग समाज की विसंगतियों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। हिंसा, परिग्रह, झूठ, आडम्बर को धर्म मान लेते हैं, पूँजी के केन्द्रीयकरण को अर्थनीति मान लेते हैं, पर्यावरण के विनाश को विकास मान लेते हैं, असमानता, लैंगिक और जातिगत भेदभाव को ईश्वरीय सिद्धांत मान लेते हैं।

लेकिन इसी समाज में से कुछ लोग इन परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते हैं। वे जन्म और जाति-आधारित भेदभाव को स्वीकार नहीं करते हैं, वे आडम्बर को स्वीकार नहीं करते हैं, वे किसी काल्पनिक सृष्टि को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अपने अस्तित्व को बचाए रखने के भय में बंध कर नहीं रह जाते हैं। वे प्रश्न पूछते हैं। जिज्ञासा करते हैं। अज्ञात में, गहराई में उतरते हैं और तभी गौतम बुद्ध का जन्म होता है, महावीर का जन्म होता है। तभी हमें शंकराचार्य, कबीर और बासवन्ना मिलते हैं।

अगर मानव समाज में रूढ़ियों, रीति रिवाजों, परंपराओं को चुनौती नहीं दी जाती, तो समाज कभी भी 'सभ्यता' की बात नहीं कर पाता। 'सती' प्रथा का अंत नहीं होता और 'देवदासी' प्रथा सरीखे व्यवहार हमें लज्जा का अनुभव नहीं कराते। अस्तित्व को बचाए रखने का भय इंसान को अपनी वास्तविक क्षमताओं को जानने नहीं देता है। इस भय के कारण वह अपने से अलग तरह के विचार को नहीं जानना चाहता है। अपने से असहमत होने वाले व्यक्ति को स्वीकार नहीं करना चाहता है। अपने समुदाय या पंथ से अलग व्यवहार करने वाले या अलग तरह के रहन-सहन को अपनाने वाले समुदायों या व्यक्तियों को अपने अधीन रखना चाहता है, उन्हें अपमानित करना चाहता है या फिर उन्हें खत्म कर देना चाहता है। यह ऐसी विडम्बना है कि ऐसा सबकुछ वह अपने सतही अस्तित्व को बनाये रखने के लिए करना चाहता है।

कितने आश्चर्य की बात है कि हिन्दू मान्यताओं में राम और सीता राजपाट छोड़कर चौदह वर्ष के वनवास पर चले गए। वनवास यानी अज्ञात में चले जाना। जहाँ उन्हें राजा की पहचान भी नहीं मिलेगी, जहाँ उन्हें राजसी सुरक्षा भी नहीं मिलेगी। रामायण के अनुसार राम उस समुदाय के थे जो अपने मूल्यों में अटूट विश्वास रखता था - यह कि भले ही जीवन त्यागना पड़ जाये, वचन निभाया जाना चाहिए। मूल्यों की व्यवस्था पर ही भरोसे की व्यवस्था टिकी रह सकती है। लेकिन राम और सीता को मानने वाला कभी भी अपने सीमित अस्तित्व की सीमा से बाहर निकल कर अपने बड़े, वृहत्तर, अपने मूल अस्तित्व की सीमा में प्रवेश ही नहीं करना चाहता है। इसी तरह, महाभारत ग्रन्थ के अनुसार पांडव भी वनवास और अज्ञातवास पर चले जाते हैं। जहाँ उन्हें धर्म और नीति का अनुभव होता है, लेकिन महाभारत को बांचने वाले यह नहीं समझ पाते हैं कि अज्ञात को जानने की पहल के बिना स्वयं को जाना नहीं जा सकता है। वे अपने सीमित अस्तित्व को बचाना चाहते हैं। रामायण और महाभारत में से समाज केवल युद्ध और हिंसा का सन्देश ग्रहण करता है, जबकि वास्तविक सन्देश तो नीति और न्याय का होता है। हिंसा और युद्ध का सन्देश ग्रहण करना सबसे आसान होता है।

धर्म के राजदूतों ने समाज को यह बता दिया है कि महावीर ने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, इसलिए उनकी आराधना करो और स्वयं मोक्ष की तरह मत बढ़ो। गौतम बुद्ध ने निर्वाण हासिल कर लिया है, इसलिए तुम उनकी आराधना करो, स्वयं गहराई में मत उतरो, गहराई से विचार मत करो। जीसस क्राइस्ट करुणा और प्रेम के लिए सूली पर चढ़ गए हैं, बस उनकी प्रार्थना करो, तुम स्वयं सूली पर न चढ़ना। राम, सीता और पांडव बरसों जंगल में रहे और धर्म और नीति को जाना, लेकिन तुम ऐसा न करना। इस तरह समाज के पास आत्म-बोध और मोक्ष के ढेरों उदाहरण हैं। इन मान्यताओं के अनुसार इन्हें पूजा भी जाता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि बेहतर इंसान बनने के लिए क्रांतिकारी बदलाव लाना होता है।

भरोसे का होना और भरोसा रखने की चुनौती

मूल बात यह है कि इंसान की सबसे बड़ी ताकत है विचार करना, विवेक का इस्तेमाल करना, स्वयं रचना कर पाना; लेकिन इंसान से उसकी इन्हीं ताकतों को सबसे पहले छीना जाता है। पूरी दुनिया में धर्मगुरु या धर्म के राजदूत इंसान को स्वयं गहराई से विचार नहीं करने देना चाहते हैं।

ज़रा सोचिये कि एक बीज होने के क्या मायने होते हैं? एक बीज जब अपना अस्तित्व छोड़ता (खोता नहीं है) है, तभी उसका अंकुरण होता है, तभी उसमें से पौधा निकलता है और दरख्त बनता है। बीज के भीतर बहुत सारी ऊर्जा होती है। उसी ऊर्जा से, उसी ताप से बीज अपने आवरण को तोड़ पाता है। बीज के आवरण के टूटने के बाद ही दरख्त का जन्म होता है। दरख्त से फूल, पत्तियाँ और फल मिलते हैं। फिर एक बीज से कई बीज बन जाते हैं। जब एक बीज अपना अस्तित्व खोता है, तभी उसका रूपांतरण कई बीजों में होता है। और फिर हर बीज अपने अस्तित्व को मिटाने के लिए तैयार होता है। यही जीवन का, प्रकृति का सिद्धांत भी है। लेकिन इंसान अपने भ्रम, अहंकार और भय के आवरण को तोड़ना नहीं चाहता है। इसी आवरण को तोड़ने की प्रक्रिया को साधना कहते हैं।

लेकिन इंसान ऐसा नहीं हो पाया। राम, कृष्ण, पांडव, महावीर, कबीर, गुरु नानक, रैदास जैसे कुछ ही बीज बन पाए। फिर इंसान ने नियम बना लिए, धर्म ग्रंथ बना लिए कि जो बीज दरख्त बन चुके हैं, बस उनकी पूजा करते रहो। बाकी कोई और बीज न बनना। बाकी कोई और बीज बनने की कोशिश करता है, तो वह अपराधी होता है। राष्ट्रद्रोही होता है।

महावीर को मानने वाला यह नहीं जान पाया कि बिना स्वयं की पहल के मोक्ष केवल एक कल्पना है। महाभारत की व्याख्या करने वाला इंसानों को यह महसूस नहीं करवा पाया कि कुरुक्षेत्र केवल एक बार नहीं सजाया गया था। वह हमेशा हमारे आसपास मौजूद रहता है। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है हम हमेशा धर्म और सत्य को परखते रहें।

वास्तव में हमारे पांच हजार सालों का इतिहास इंसान की सबसे मूल और भीतरी ताकत यानी जिज्ञासा, विचार, विवेक का इस्तेमाल, तर्क और स्वयं रचनाकार होने की ताकत को भुलाने की कोशिश का इतिहास है। इंसान देखता है कि स्त्रियों के साथ भेदभाव होता है, शोषण होता है, सती प्रथा और देवदासी प्रथा गलत है, दलितों के साथ किया जाने वाला व्यवहार अमानवीय है; लेकिन फिर भी वह प्रचलित व्यवस्थाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करता जाता है। वह अपने देखने और अपने स्वयं के अनुभव पर यह विचार नहीं करता है कि ऐसी व्यवस्था क्यों बनी है? क्या यह उचित है? ऐसी व्यवस्था कौन बनाता है? हम देखते हैं, अनुभव करते हैं, लेकिन उस पर गहराई से विचार नहीं करते हैं, प्रश्न नहीं करते हैं। अगर गहराई से विचार कर लेते तो ऐसी रूढ़ियों और परम्पराओं और व्यवस्था को बदलने की खुद भी पहल कर पाते। गहराई से पहल करने के लिए पहले जिज्ञासा का भाव होना ज़रूरी है। जिज्ञासा के बिना इंसान होना ही संभव नहीं है।

अगर अस्तित्व की ही बात होती तो कबीर बस जुलाहा ही होते। अपने वास्तविक अस्तित्व को जानने, जिज्ञासा रखने और समाज के निर्माण की प्रक्रिया में अपनी भूमिका को निभाने के लिए सबसे ज़रूरी होता होता है भरोसे का होना। खुद में भरोसा होना। अपने देखे हुए, अपने अनुभव, अपनी जिज्ञासा और अपनी भूमिका में भरोसा होना। अगर केवल अपने परिवार, रोज़गार, अपनी

दुकान, अपने खेत को ही अपने अस्तित्व का आधार माना जाता तो शायद महात्मा गांधी, ज्योतिबा फुले, पंडिता रमा बाई, डा. भीमराव अम्बेडकर, पेरियार और विनोबा भावे का कहीं कोई अस्तित्व नहीं होता।

देश और समाज के लिए वे ही महत्वपूर्ण होते हैं, जो बीज की तरह अपना अस्तित्व इस भरोसे के साथ त्याग देते हैं कि उनसे एक दरख्त पनपेगा और उससे कई नए बीज जन्म लेंगे। गहराई से नहीं सोचते हैं और जिज्ञासा को त्याग दिया है, इसलिए हमेशा हिंसा और टकराव के लिए ही तत्पर रहते हैं। जब अलग-अलग पक्षों, जीवन शैलियों, उत्सवों, धर्मों को जान लिया जाता है, तब उनके बीच कोई आपसी विरोधाभास नज़र नहीं आता है। तब टकराव की संभावना खत्म हो जाती है।

क्या जिज्ञासा के बिना क्या कुछ भी रचा जा सकता है? नहीं रचा जा सकता! यह गहराई से समझने की बात है कि जब जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, तब अपना काम, अपने सम्बन्ध, अपनी भूमिका निरर्थक लगने लगती है। जब कोई भी व्यक्ति यह 'मान' ले कि वह सब कुछ जानता है और अब उसे नया सीखने-जानने की जरूरत नहीं है, तब जिज्ञासा खत्म होती है। जब ऐसी स्थिति आती है, तब परिवार, समुदाय, समाज और व्यवस्था सभी उसे अप्रासंगिक मानना शुरू कर देते हैं।

समाज में जिस तरह से हमारा पालन-पोषण होता है, उसमें जिज्ञासा की पृवृत्ति को सामाजिक संरक्षण नहीं दिया जाता है। व्यवस्था, जीवन, रिश्तों, बाज़ार, नीति और राजनीति के बारे में प्रश्न पूछने को खराब पृवृत्ति माना जाता है। प्रश्न पूछने का मतलब यह माना जाता है कि हमें कुछ पता नहीं है। हम कुछ जानते नहीं हैं। व्यक्ति के पास प्रश्न तो होते हैं, लेकिन उससे बड़ा यह भय होता है कि कोई भी जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर उसे परिवार, विद्यालय, समुदाय, दोस्तों के समूह, दफ्तर में किस नज़र से देखा जाएगा? उसके बारे में यह सोचा जाएगा कि अरे, इन्हें इतना भी नहीं पता! परिवार, दफ्तर, दोस्तों के समूह के भीतर ही 'भरोसे' का अभाव होता है। व्यक्ति और समाज में वैज्ञानिक सोच के निर्माण के लिए जिज्ञासा होना जरूरी है और जिज्ञासा की पृवृत्ति को बनाने के लिए व्यक्ति और समाज के बीच परस्पर गहरा विश्वास होना जरूरी है। यह विश्वास कि मेरे प्रश्न पूछने पर, जिज्ञासा व्यक्त करने पर मुझे नासमझ या अज्ञानी नहीं माना जाएगा। मेरी क्षमताओं पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जाएगा।

इसी तरह हमारा परिवार, हमारा समाज, हमारे अध्यापक हमेशा केवल यही अपेक्षा रखते हैं कि व्यक्ति को हमेशा सफल होना चाहिए। यह अपेक्षा नहीं रखते कि व्यक्ति को 'स्वयं' को जानना चाहिए। एक बेहतर व्यक्ति बनना चाहिए। यह सामने दिखाई देने वाला नियम है कि जो असफल होता है, वह उल्लेखनीय नहीं है, उसे कम सम्मान मिलना चाहिए। हम अपनी संस्कृति के बहुत गुणगान करते हैं, लेकिन सीखने और प्रयोग करने के अवसर हासिल करने के लिए व्यक्ति को विद्रोही होना पड़ता है, क्रांतिकारी होना पड़ता है क्योंकि सामान्य सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति को, बच्चों को, युवाओं को, महिलाओं को प्रयोग करने-नवाचार करने का अधिकार ही नहीं होता है। वास्तव में बेहतर समाज का निर्माण करना हो तो हर व्यक्ति के भीतर की वैज्ञानिकता को पालना-पोषण और संरक्षण देना जरूरी होता है।

अगर प्रयोग करना है, नवाचार करना है, अगर किसी अज्ञात को जानने की योजना है, किसी समस्या को हल करने के लिए पहल करने की इच्छा है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह योजना सफल

ही होगी, समाधान हासिल हो ही जाएगा; बहुत सारी स्थितियों में असफलता भी मिलती है। असफलता किसी भी पहल में छिपी सबसे बड़ी संभावना होती है। इसका मतलब यह है कि व्यक्ति में जिज्ञासा होना, जिज्ञासा के आधार पर प्रयोग और पहल करना, पहल में असफलता का होना और असफलता को निरपेक्ष भाव से स्वीकार करना सीखना ही जीवन को और समाज को बेहतर बना सकता है। जिज्ञासा, पहल और सफलता का लक्ष्य रखते हुए असफलता को भी स्वीकार करने की आंतरिक क्षमता भी व्यक्ति को 'प्रासंगिक' बनाती है।

अपनी प्रासंगिकता के बारे में व्यक्ति बहुत सचेत रहता है। वह प्रासंगिक बने रहना चाहता है, लेकिन उन कारणों के प्रति सचेत नहीं रहता, जो उसे अप्रासंगिक बनाती हैं। मसलन अपनी क्षमताओं का आंकलन न करने, व्यापक वातावरण और पारिस्थितिकी (ईको सिस्टम) से अनभिज्ञ रहने, अन्य व्यक्तियों के मनोभावों को महसूस न कर पाने और गहराई से विचार करने की क्षमता के अभाव में अप्रासंगिकता का भाव सबसे ज्यादा भारी पड़ता है। अपनी प्रासंगिकता के लिए व्यक्ति बाहरी दुनिया से अपेक्षा रखता है कि वह उसे स्वीकार करे, लेकिन वह अपनी क्षमताओं, अपने व्यवहार, अपनी संभावना के प्रति ही सचेत नहीं रहता है। जब व्यक्ति का स्वयं पर 'भरोसा' सबसे ज्यादा कमज़ोर होता है, तभी वह अपनी प्रासंगिकता अपनी बाहर की दुनिया में खोजता है और अपने अवसाद के कारण भी।

संवाद और जीवन के आयामों का विस्तार

जब व्यक्ति एक समूह का हिस्सा होता है, तब उसका अस्तित्व व्यापक समाज से भी जुड़ा होता है। इस जुड़ाव को स्थापित करने में और बनाये रखने में 'संवाद' की बहुत अहम भूमिका होती है। संवाद के बिना न तो व्यक्ति अपने आप से जुड़ता है और न ही परिवार से और न ही समाज से। सभ्यता के लिए संवाद एक अनिवार्यता है। जब संवाद होता है, तब हम दुनिया में मौजूद विविधता को जान पाते हैं, तभी हम सुनते हैं, तभी हम विचार भी करते हैं। जब संवाद होता है, तभी हमें अपने विचारों और ज्ञान को परखने का मौका भी मिलता है। संवाद से ही व्यक्ति के जीवन के आयामों का विस्तार होता है। अगर संवाद न हो, तो व्यक्ति यह कभी जान ही नहीं सकता है कि जीवन के असंख्य पक्ष होते हैं।

इसीलिए जैन दर्शन में अनेकांत और स्यादवाद की अवधारणा आती है। इस अवधारणा में माना जाता है कि वस्तु है भी और नहीं भी है, वस्तु हो भी सकती है, वस्तु नहीं भी हो सकती है। संवाद जितना व्यापक होता है, उतनी ज्यादा वैमनस्यता के समाप्त होने की संभावना बनती है। जब संवाद नहीं होता है, तब एक दूसरे को जाना नहीं जाता है। जब एक दूसरे को जाना नहीं जाता है, तब धारणाएं पनपती हैं। धारणाएं विकसित होकर पूर्वाग्रह का रूप ले लेती हैं और व्यक्ति पूर्वाग्रह को ही 'सत्य' मान लेता है।

संवाद के लिए एक दूसरे में भरोसा होना बहुत जरूरी होता है। यहाँ भरोसा दो स्तरों पर होता है - स्वयं पर और दूसरों पर, समुदाय पर, दोस्तों पर। बिना भरोसे के संवाद नहीं हो सकता है। ज़रा सोचिये कि क्या भरोसे के बिना किसी की कोई बात सुनी जा सकती है? अगर कोई बात सुनी गई तो क्या भरोसे के बिना उसके बारे में विचार किया जा सकता है? अपनी बात कहने और किसी की

बात सुनने, दोनों के लिए ही भरोसे की जरूरत होती है। एक चुटकी भरोसा भी हो तो संवाद शुरू हो सकता है। संवाद शुरू हो जाए तो एक चुटकी भरोसा, भरोसे के सागर में तब्दील हो सकता है।

वस्तुतः जब से मानव में हाथ, पैर और दिमाग का विकसित स्वरूप हासिल करना शुरू किया, उसने सबसे पहले आग, पहिए, खेती का आविष्कार नहीं किया। इन सबसे पहले 'भरोसे' का निर्माण किया। यह भरोसा कि उसके पंजे कुछ जकड़ सकते हैं। वह अपने पैरों पर चल सकता है। वह आविष्कार कर सकता है। वह आकांक्षाएं न केवल पैदा कर सकता है और पाल सकता है, बल्कि वह उन्हें चरितार्थ कर सकता है। इन सबसे आगे बढ़कर वह राजनीति कर सकता है, सत्ता व्यवस्था का निर्माण कर सकता है और न केवल प्रकृति को, बल्कि अपने ही परिवार, समुदाय और दुनिया के लोगों को अपना गुलाम भी बना सकता है। मानव द्वारा अब तक बनाई गई हर व्यवस्था, चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक व्यवस्था, उनमें दूसरों को अपने अधीन करने, उन पर शासन करने और दास बनाने की प्रवृत्ति केंद्र में नजर आती है। नियंत्रण और सत्ता के लिए युद्धों का आविष्कार किया गया और युद्धों के लिए हथियारों का। अच्छे हों या बुरे, इंसान को अपनी क्षमता पर 'भरोसा' ही आज के मुकाम तक लेकर आया है।

भरोसा और अज्ञात की खोज

भरोसा ही संस्थागत आकार लेकर 'धर्म' के रूप में स्थापित होता है। 'धर्म' के अंतर्गत केवल हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, जैन, बौद्ध, जैन धर्म ही नहीं हैं, बल्कि असंख्य आस्थाएं, प्रतीक और प्रार्थना पद्धतियाँ शामिल हैं। बौद्धिक बहस में अक्सर संस्थागत धर्मों को नकारात्मक रूप से पेश किया जाता है।

निःसंदेह हर संस्थागत धर्म विशेष में कोई न कोई विसंगतियाँ और बुराइयाँ मौजूद रही हैं। इंसान ने धर्म की रूपरेखा इस तरह बनाई कि धर्म ही सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों का आधार बना दिया गया। वास्तव में धर्म तो मूल्य-आधारित जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित होने वाली वाली व्यवस्था है, लेकिन कुरीतियों, आडम्बरों और समुदाय की शुद्धता के आग्रह ने धर्म को मूल स्वरूप से भटका दिया।

रंग-रोगन, इमारतों, मूर्तियों, प्रतीक स्थलों को ही धर्म माना जाने लगा और उस मूल सिद्धांत को तिलांजलि दे दी गई कि ईश्वर (जो कि इंसान द्वारा निर्मित मानक है) हर कण में मौजूद है। ईश्वर किसी प्रतीक का नहीं, बल्कि चेतनायुक्त जीवन जीने का पद्धति है।

वास्तव में विज्ञान की तरह ही, धर्म भी इन्सान को 'जिज्ञासा' की अंतहीन यात्रा पर लेकर जाता है। सच तो यही है कि इंसान चाहे जितना भी जान ले, जितने भी आविष्कार कर ले, लेकिन फिर भी कुछ न कुछ 'अज्ञात' रहता ही है और उसी अज्ञात को 'ईश्वर' की संज्ञा दी गई है। इंसान अंतरिक्ष की यात्रा कर रहा है, लेकिन अभी भी उसके छोर को वह छू नहीं पाया है।

वह छोर ही अज्ञात है। इंसान समुद्र के गहराइयों में जा रहा है, लेकिन उसकी थाह का अभी कोई अनुमान नहीं है। बाढ़, सूखा, सुनामी, चक्रवात कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते हैं, यह भी

‘अज्ञात’ ही है। इसी तरह जब इंसान समूह में रहने लगा, तब उसे ऐसे नियमों की जरूरत पड़ी, जो समूह के सभी लोग स्वीकार करें।

इसके बाद नियंत्रण के लिए भी नियमों और मानकों की जरूरत पड़ी, तब अज्ञात का कथानक रचने के बाद धार्मिक आख्यान के माध्यम से सामाजिक नियमों और सत्ता के नियमों का प्रतिपादन हुआ होगा। नियम तभी स्वीकार्य होते हैं, जब नियम बनाने वाली व्यवस्था में भरोसा हो। अगर भरोसा न हो, तो नियमों की व्यवस्था ज्यादा दिनों तक चल नहीं सकती है।

यह साफ़ दिखाई देता है कि धर्म और धार्मिक प्रतीकों ने इंसान को ‘अज्ञात’ के साथ रहने, अज्ञात की साधना करने की प्रेरणा देने के साथ ही सामाजिक समूह में रहने की प्रेरणा भी दी है। अतः धर्म के महत्व को खारिज भी नहीं किया जा सकता है।

हम मानवता के मूल्य कहाँ देखें?

एक और महत्वपूर्ण बात गौर करने वाली है। लगभग 5 हजार सालों की आधुनिक सभ्यता के विकास के कालखंड में मानव ने अपनी शक्तियों का खूब विस्तार किया है, लेकिन मानवता में उसका भरोसा बहुत कमज़ोर होता गया है। शुरुवाती काल में मानव अपनी उत्तरजीविता के लिए हिंसक होता था, परन्तु ‘विकसित मानव’ सत्तावादी होने की आकांक्षा में और ज्यादा हिंसक होता गया है। उसकी हिंसा ज्यादा सुनियोजित होती गई है। परिवार, समुदाय और राष्ट्रों के भीतर के सत्ता संबंधों में यह हिंसा नए रूप लेती साफ़ नजर आती है। यह हिंसा खत्म होती नजर नहीं आती। इसका मतलब शायद यह है कि मानव का इतिहास सत्ता और नियंत्रण के विकास का इतिहास है, मानवता के मूल्यों के विकास का इतिहास नहीं है। इसके पहले धर्मों के माध्यम से मानवता के मूल्यों के विकास की कल्पना की गई लगती है, लेकिन धर्म भी सत्तावादी प्रवृत्ति के अधीन हो गए।

मानवता के मूल्यों के विकास के लिए संवैधानिक मूल्यों की अवधारणा

संवैधानिक भरोसे का मतलब है एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना और उसे अपनाना, जिसमें हर समूह और समुदाय को भरोसा हो। जो समता, वैज्ञानिक सोच, सह-अस्तित्व और पारस्परिकता को सामाजिक जीवन का आधार बनाती हो। निःसंदेह समाज में धर्म, विश्वास, विचार, संस्कृति की बहुलता होगी ही; ऐसे में संवैधानिक व्यवस्था इस बहुलता के बीच हर धर्म, विचार, विश्वास और संस्कृति को अपने विशेष अस्तित्व की सुरक्षा और संरक्षण का विश्वास पैदा करती है। ऐसी व्यवस्था पर किसी खास समुदाय, पंथ, विश्वास या संगठन के हित या अहित के नजरिए से प्रश्नचिन्ह न लगे, यही सुनिश्चित होता है संवैधानिक भरोसे से।

संविधान के बनने की प्रक्रिया से तय होता है, कि संवैधानिक भरोसा कितना मज़बूत हो सकता है। भारतीय संविधान का निर्माण एक सहभागी और तार्किक पद्धति से हुआ था। इसकी मंशा भारत को एक समता-मूलक, लोकतांत्रिक और पंथ निरपेक्ष गणराज्य बनाने की थी और इसने विश्व शान्ति को

अपना 'साध्य' माना था। इस 'साध्य' को हासिल करने के लिए संविधान अपने आप में महत्वपूर्ण 'साधन' बन जाता है। संविधान बनाने के प्रक्रिया में विचार और विचारधाराओं को पटल पर रखा जा सकता है, लेकिन संवैधानिक व्यवस्था बन जाने के बाद इन विचारधाराओं का लोकतांत्रिक राजनीतिक महत्व हो सकता है, लेकिन इनके आधार पर संवैधानिक व्यवस्था को ठोकर नहीं मारी जा सकती है।

सामाजिक मूल्य

समाज सामान्य व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामूहिक व्यवहार के लिए जिन मूल्यों का निर्धारण करता है, वही सामाजिक मूल्य होते हैं। इनका निर्धारण धर्म और दर्शन से होता है। अनुभूतियों के आधार पर मूलतः सामाजिक व्यवस्था को अच्छा बनाने और सामाजिक विसंगतियों को दूर करने के उद्देश्य से ही दार्शनिक प्रश्न खड़े होते हैं। आत्मिक और सामाजिक अनुभवों पर गहन विचार करने के बाद धार्मिक सिद्धांत रचे जाते हैं। ऐसे सिद्धांतों में आदर्श समाज का सपना होता है। जैसे -

**अज्ञानमिति च रज्जी सर्पश्चान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्युते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्
नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम्॥**

“जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रांति होती है, उसी प्रकार सब में विद्यमान ब्रह्म और देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम, बंधन-मुक्ति आदि सभी अनात्म वस्तुओं में भेद मानना ही 'अज्ञान' है।”

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्, उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

“इसका अर्थ है कि यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, इस तरह का विचार छोटे चित्त के लोग रखते हैं, उदार हृदय वाले लोगों के लिए तो पूरी वसुधा (पृथ्वी) ही परिवार है।”

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥

इसका मतलब है कि विश्व में सभी सुखी हों, सभी रोगमुक्त हों, सभी के जीवन में मंगल हो और किसी के जीवन में दुःख न हो **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।**

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥

इसका मतलब है कि विश्व में सभी सुखी हों, सभी रोगमुक्त हों, सभी के जीवन में मंगल हो और किसी के जीवन में दुःख न हो।

ऐसे गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत होने के बावजूद भारतीय समाज में जाति-आधारित व्यवस्था, अस्पृश्यता, लैंगिक भेदभाव, आर्थिक असमानता ही व्यवस्था के मूल तत्व बन गए। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि धर्म दर्शन के सिद्धांतों को 'लोकव्यापी' नहीं माना गया। सामाजिक विभाजन ने दार्शनिक सूत्रों को भी व्यवहारिक रूप में विभाजित कर दिया। विडम्बना यह है कि भारतीय समाज में कुछ लोगों का जिक्र आता है, चाहे वे शंकराचार्य हो, कबीर हों, नानक हो, रैदास, सावित्री बा, जोतिबा फुले हों, गांधी या

अम्बेडकर हों, इन्होंने वास्तव में कुछ और बात नहीं की, मूल मानवीय मूल्यों के आधार पर ही समाज के निर्माण की वकालत की। इन्हें या तो समाज-द्रोही मान लिया गया या महामानव होने का अपवाद मान लिया गया। यही अंतर्द्वंद्व है।

मूलभूत सामाजिक मूल्यों के दायरे को सबसे पहले 'नैतिक मूल्य' के व्यवहारिक सन्दर्भ में सीमित किया जाता है। यूँ तो नैतिक मूल्यों का मूल अर्थ अपने आप में बहुत गहरा और सपष्ट होता है, लेकिन सामाजिक विभाजन ने उन्हें भी सीमित कर दिया। व्यक्ति अपने परिवार, समुदाय और सामुदायिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से नैतिक मूल्यों को हासिल करता है। ऊपरी तौर पर तो नैतिक मूल्य सार्वभौमिक मूल्य नज़र आते हैं, लेकिन सच तो यह है कि नैतिक मूल्य हर समुदाय की सांस्कृतिक और पारंपरिक मान्यताओं से बहुत गहराई तक प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि एक ही नैतिक मूल्य को दूसरे व्यक्ति या समुदाय के साथ अलग-अलग तरह से व्यवहार में लाया जाता है, क्योंकि नैतिक मूल्यों को "अनिवार्य रूप से सार्वभौमिक" नहीं माना गया है।

सामाजिक मूल्यों में बंधुता का संदर्भ आता है, लेकिन क्या ऐसा दिखाई नहीं देता है कि बंधुता का दायरा सामुदायिक या धार्मिक समूहों के दायरों में सीमित होता है? जैन समुदाय के लिए बंधुता का दायरा जैन समुदाय के भीतर ही सीमित है। ब्राह्मण समुदाय के सामाजिक मूल्यों के व्यवहार का दायरा भी उसकी अपनी जातिगत पहचान तक सीमित होता है, इसी तरह मुस्लिम समुदाय के सामाजिक मूल्यों का दायरा भी स्पष्ट रूप से नज़र आता है। आसपास नज़र डाल लीजिए। सामान्यतः यही दिखाई देगा कि ये समुदाय और जातियां जनकल्याणकारी काम भी निश्चित सामुदायिक-जातिगत दायरे में ही करते हैं। विभिन्न जातिगत समूह राजनीतिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले चुनावों में भी सामुदायिक आधार पर स्थान आवंटित करने की मांग करते हैं। इसी तरह जातिगत और साम्प्रदायिक विभाजन के आधार पर बस्तियां भी बसाई जाती हैं।

यह भी तर्क दिया जा सकता है कि भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का अहम स्थान है। प्रश्न यह है कि नैतिक मूल्यों के मायने क्या हैं? कोई भी समुदाय अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं के आधार पर कुछ व्यवहारों को अच्छा और जरूरी व्यवहार मानता है और कुछ व्यवहारों को अनुचित और गैर जरूरी मानता है। इन व्यवहारों की पहचान इसलिए महत्व रखती है क्योंकि इन व्यवहारों को अपनाने से ही सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व आता है और परिवार सरीखी सामाजिक इकाइयां बरकरार रहती हैं। एक नैतिक मूल्य है बड़ों का सम्मान करना। स्वाभाविक रूप से यही गरिमा का मूल्य भी है। लेकिन इसमें किसी दूसरी जाति या दूसरे धर्म के बुजुर्ग या बड़े व्यक्ति का ठीक वैसा ही सम्मान करना भी शामिल है क्या?

दूसरा नैतिक मूल्य है अचौर्य का या चोरी न करने का। लेकिन क्या इस आदर्श में आदिवासी समाज के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा न करना या व्यापार में उचित मुनाफा ही कमाने का व्यवहार शामिल है? तीसरा नैतिक मूल्य अनुशासन का है। लेकिन क्या इस मूल्य में अपनी भूमिका के प्रति सत्यनिष्ठ और जवाबदेय होना और उस भूमिका को निभाते समय किसी भी तरह के भेदभाव या छुआछूत या राग और द्वेष से मुक्त होना आवश्यक है या नहीं? नैतिक मूल्यों का अपना महत्व रहा

है, लेकिन उनका व्यवहार में लाया जाना सामुदायिक/जातिगत-साम्प्रदायिक-सांस्कृतिक दायरों के भीतर ही सीमित रहा है।

नैतिक मूल्यों में वह मानक आचरण शामिल होता है, जो हमारे विचारों, व्यवहार और निर्णय लेने का मार्गदर्शन करता है। ये मानक आचरण तब महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जब नैतिक या सामाजिक दुविधाओं की स्थिति में कोई निर्णय लिया जाना होता है। किसी भी विषय या घटना के सन्दर्भ में उचित या अनुचित का निर्धारण करने में ये प्रभावी भूमिका निभाते हैं। वास्तव में नैतिक मूल्य सांस्कृतिक मतभेदों, सामाजिक मानदंडों या धर्म ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में अंतर्निहित होते हैं।

ईमानदारी एक नैतिक मूल्य है। एक व्यक्ति अपने परिवार के भीतर ईमानदारी का व्यवहार करता है, लेकिन जब वह व्यक्ति शिक्षक की भूमिका में होता है, क्या तब ईमानदारी के तत्व का उपयोग करता है? जब वह शिक्षक होता है, तब क्या छात्राओं (लड़कियों) या दलित बच्चों के प्रति उसका नजरिया और व्यवहार ईमानदार होता है? जब वह व्यापारी की भूमिका में होता है, क्या तब वह ईमानदारी के तत्व का उपयोग करता है? एक व्यक्ति बहुत संपन्न है और बड़े धार्मिक स्थल के निर्माण के लिए बहुत बड़ा दान करता है। दान की वह राशि नैतिक तरीकों से ही कमाई गई है; क्या समुदाय या धर्म गुरु यह प्रश्न पूछते हैं?

क्षमा को एक महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य माना जाता है; लेकिन इस नैतिक मूल्य का व्यवहार व्यक्ति, उसकी हैसियत और सामाजिक पहचान देख कर किया जाता है। अगर कोई बराबरी का या प्रभावशाली व्यक्ति है, तो उसके साथ क्षमा के मूल्य को अपनाया जाएगा; लेकिन जाति और वर्ग में निम्नतर स्थान रखने वाले व्यक्ति के साथ क्षमा का व्यवहार नहीं किया जाएगा। इससे भी आगे प्रश्न यह होगा कि जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग, जन्मस्थान या किसी भी भेदभाव पर आधारित व्यवस्था में 'क्षमा' का मूल्य किसके लिए महत्वपूर्ण होना चाहिए? चूंकि नैतिक मूल्य मुख्य रूप से सामुदायिक और पारिवारिक संरचनाओं को शुद्ध बनाये रखने के उद्देश्य से परिभाषित किये जाते हैं, इसलिए इनका दायरा सार्वभौमिक नहीं होता है और कुछ अपवादों को छोड़ कर व्यक्ति, परिवार, जाति, पंथ आदि के आधार पर इन्हें त्याग भी दिया जाता है।

संवैधानिक भरोसे का अर्थ

कुछ आवश्यक प्रश्न जिन पर विचार करना होगा। क्या देश में सभी लोगों को समान होना चाहिए? किसी के साथ किसी तरह का भेदभाव या छुआछूत नहीं होनी चाहिए? देश में जो भी संसाधन हैं, उन पर किसी खास समूह, समुदाय या घरानों का एकाधिकार नहीं होना चाहिए? देश के लोगों को अपनी सरकार से प्रश्न पूछने का अधिकार होना चाहिए? स्त्रियों को बिना भय के पढ़ाई करने, काम करने और कहीं भी आने-जाने की स्वतंत्रता होना चाहिए? हमारा संविधान अपनी उद्देशिका में इन सभी प्रश्नों के उत्तर देता है। परंतु हमारे समाज और शासन व्यवस्था ने इस उत्तर को स्वीकार नहीं किया। लोगों के बीच और लोगों के लिए समता, समानता, गरिमा, न्याय, स्वतंत्रता और बंधुता स्थापित करने के लिए भारत में संविधान सम्मत राजनीतिक प्रणाली और संविधान सम्मत शासन व्यवस्था की जरूरत थी, जिसमें छुआछूत, जातिवादी व्यवहार, लैंगिक उत्पीड़न, संसाधनों के

एकाधिकार और सामाजिक विसंगतियों का स्पष्ट प्रतिकार किया जाता। ऐतिहासिक व्यवस्था में जाति, लिंग, सामंतवाद और फिर उपनिवेशवाद ने बहुजन के मन से 'भरोसे' की उस परत को पूरी तरह मिटा दिया था जहां उन्हें लगता था कि उनके साथ भी गरिमामय व्यवहार हो सकता है या वे दासत्व से मुक्त हो सकते हैं। स्त्रियों में भी यह विश्वास नहीं बचा था कि वे स्वतंत्र रूप कोई यात्रा भी कर सकती हैं।

संवैधानिक मूल्य सार्वभौमिक होते हैं और जाति, धर्म, वर्ण, आवास, लिंग, पहचान के आधार पर भेदभाव की अवधारणा को खारिज करते हैं।

आज़ादी के बाद संविधान के माध्यम से लिखित वायदा करके 'भरोसे' की परत दोबारा बिछाने की कोशिश शुरू की गयी। वायदा किया गया कि भारत में लोकतंत्र होगा, बंधुता और गरिमा को एकता का आधार माना जाएगा, व्यक्ति को खरीदा-बेचा नहीं जाएगा, कोई मालिक और गुलाम नहीं होगा, व्यक्ति प्रजा नहीं, नागरिक होगा और क़ानून सबके लिए समान होगा। संविधान 'भरोसे' के पुनर्निर्माण का लिखित वायदा पत्र ही तो है। प्रश्न यह है कि हम एक व्यक्ति के रूप में, सरकार एक जनकेंद्रित शासन इकाई के रूप में, समुदाय एक सामूहिक इकाई के रूप में संविधान रूपी वायदा पत्र के मुताबिक व्यवहार करते हैं या नहीं। क्या हम सबने उस 'भरोसे' के पुनर्निर्माण की जिम्मेदारी ली, जो देश को लेकर ऐसा बोध पैदा करता, जिसमें धर्म के नाम पर अधर्म की राजनीति को मान्यता नहीं दी जाती, जहां हिंसा को शक्ति का प्रतीक नहीं माना जाता और असत्य को केंद्रीय नीति नहीं बना दिया जाता!

संवैधानिक भरोसे को तोड़ने की जरूरत क्यों पड़ती है?

संवैधानिक भरोसा तोड़े जाने की कई वजह हैं। यह भरोसा तोड़ना पड़ता है ताकि दास प्रथा की मान्यता खारिज न हो, जाति के आधार पर होने वाला सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अन्याय को मिली मान्यता खारिज न हो। इसके अलावा स्त्रियों को बराबर मानने के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सिद्धांत की मान्यता को नकारने और आम लोगों के 'मत' से न बनने देने की कोशिश में ऐसा किया जाता है क्योंकि इससे सामंतों और प्रभुत्व संपन्न वर्गों को गरीबों, दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों, सफाईकर्मियों तथा अल्पसंख्यकों के दरवाजे पर जाना पड़ता है। इससे उनके अहंकार को चोट पहुंचती है। सामाजिक-आर्थिक सत्ता को नियंत्रित करने के लिए समाज के एक समूह ने जाति, वर्ग, लिंग के आधार पर ऐसे मानकों की श्रृंखला बनाई जो व्यक्ति के शरीर को नियंत्रित कर सके। छुआछूत, यौनिकता, श्रम, माहवारी, प्रजनन आदि सब शरीर को ही नियंत्रित करते हैं।

जब संवैधानिक मूल्यों का संदर्भ लिया जाता है, तब बात केवल क़ानून की नहीं होती। उस समय प्रश्न यह होता है कि आखिर इंसान होने के मायने क्या हैं? सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था किसी बाहरी इंसान ने नहीं बनाई और न ही इंसान ऐसी किसी व्यवस्था का बंधक है। यह हमेशा से उसके विचार और शक्ति का विषय रहा है कि वह किस तरह की व्यवस्था का निर्माण करे? इंसान ने नियम आधारित और सत्ता केंद्रित व्यवस्था को चुना है। इसमें सत्ता शक्ति को केंद्र में रखा गया है और इस केंद्रीय शक्ति को स्थापित करने के लिए नस्ल, लिंग, जाति और वर्ण की नीति को लागू किया गया।

पूरी दुनिया में इंसान द्वारा बनाई गयी व्यवस्थाओं में 'शरीर' को केंद्र में रखा गया है। किसी भी व्यक्ति के 'मन' के बजाय उसके 'शरीर' को उसकी पहचान माना जाता है। उदाहरण के लिए महिला का शरीर की उसके अस्तित्व का केंद्र माना जाता है। वह बच्चों को जन्म देती है, इसलिए उसका शरीर कमजोर है। वह श्रम नहीं करती है या नहीं कर सकती है, इसलिए परिवार में, समुदाय में, व्यवस्था में उसकी हिस्सेदारी न्यूनतम रहती है। माहवारी एक प्राकृतिक घटना है, लेकिन इसे भी उसके अपराध के रूप में स्थापित कर दिया गया। इस दोगमता के भाव को स्थापित करने के लिए स्त्री के द्वारा किए जाने वाले श्रम की पहचान को ही अस्वीकार कर दिया गया। यह सोच स्त्री के अस्तित्व को उसके शरीर तक ही सीमित कर देती है। इसी तरह रंग के आधार पर निर्धारण हुआ कि जो अश्वेत है, वह शुद्ध नहीं है और जो श्वेत है, वही पूजनीय और प्रभुत्वशाली है। रंगभेद की नीति इसी आधार पर बनी। फिर इंसानी समाज को नस्लों में भी विभाजित कर दिया गया और कुछ नस्लें 'शुद्ध' मान ली गयीं और कुछ नस्लें 'दास और अशुद्ध' मान ली गयीं। सामाजिक व्यवस्था में जाति की अवधारणा को स्थापित किया गया। जाति की व्यवस्था को संचालित करने के लिए व्यक्ति के पेशे, भूमिका और जन्म को मानक मान लिया गया।

‘शरीर’ व्यवस्था का आधार क्यों बनाया जाता है?

शरीर को नियंत्रित किया जा सकता है, उसे बांधा जा सकता है। शरीर को आधार बना कर निर्मित की गयी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के गुणों और मूल्यों की प्रमुखता को स्थापित नहीं होने दिया जाता है। जब शरीर को आधार बना कर सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था बनाई जाती है, तब इंसानियत को सार्वभौमिक शर्त नहीं बल्कि अपवाद माना जाता है। कुछ लोग, कुछ समूह इंसानियत की बात करते रहें, इंसानियत आधारित व्यवस्था बनाते रहें, उतनी छूट उन्हें दे दी जाती है, लेकिन इंसानियत को व्यवस्था का आधार नहीं बनने दिया जाता है। यही कारण है कि भारतीय संविधान में व्यक्ति के शरीर (यानी भौतिक पहचान) से ऊपर उठकर मूल्यों पर आधारित सार्वभौमिक व्यवस्था बनाने की कोशिश की गयी।

व्यक्ति के अस्तित्व को 'शरीर' तक सीमित रखने से इंसान पर नियंत्रण आसान हो जाता है। व्यक्ति को भूखा रखकर नियंत्रित किया जा सकता है, उसके साथ हिंसा करके नियंत्रित किया जा सकता है, उससे मानव मल की सफाई करवाकर नियंत्रित किया जा सकता है। जब व्यक्ति का मन कमजोर हो जाता है, तब उसे आसानी से भीड़ का हिस्सा भी बनाया जा सकता है। यही भीड़ 'शरीर' पर आधारित व्यवस्था का सुरक्षा तंत्र बन जाती है। मानवीय मूल्य व्यक्ति को अपने मन को साधने के लिए तैयार करते हैं। जब व्यक्ति और समाज 'मन से निर्मित' होते हैं, तब उन्हें नियंत्रित करना, दास या गुलाम बनाना और लंबे समय तक बेहोश रखना संभव नहीं होता है। जब तक व्यक्ति अपने शरीर को ही अपनी पहचान मानता है, तब तक वह रंगभेद, वर्ग व्यवस्था, लैंगिक भेदभाव को पहचान नहीं पाता है। जब वह अपने मन और बुद्धि को अपने अस्तित्व का केंद्र मान लेता है, तब वह मूल्यों के प्रति अपनी चेतना को विकसित करने लगता है और सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था का मूल स्वभाव बदलने लगता है।

श्वेत-अश्वेत, जाति, लिंग आधारित पहचान के आधार पर ही 'पूँजी' की व्यवस्थाएं बनाई गयीं। इंसानी समाज के एक विशालतम समूह को यह अहसास करा दिया गया कि वह इंसान नहीं है, दलित है,

आदिवासी है, स्त्री है, अश्वेत है। मानवीय मूल्य व्यक्ति को 'शरीर' से अधिक 'मन' के रूप में विकसित होने देते हैं। यदि कोई व्यक्ति 'मन' को महसूस कर ले और उसे अपना अस्तित्व मान ले तो उसे 'नियंत्रित' करना संभव नहीं होता। यही वजह है कि भारतीय संविधान परिवार या समाज की व्यवस्था से प्रभावित होकर 'व्यक्ति' की अस्मिता को परिभाषित नहीं करता है। वह 'व्यक्ति' को ही केंद्र में रखता है और व्यक्ति की गरिमा, प्रतिष्ठा, स्वतंत्रता, व्यक्तियों के बीच बंधुता, व्यक्ति के लिए सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय की अवधारणा स्थापित करता है। यह अवधारणा व्यक्ति के अस्तित्व को 'शरीर' से आगे ले जाकर मानव के रूप में स्वीकार करती है। ऐसा मानव जो सामाजिक भी है और स्वतंत्र भी।

जिन्होंने भी अपने अस्तित्व को अपने शरीर से ऊपर माना, उन्होंने ही समाज को मानवता के मार्ग से भटकने से बचाया है। फिर वे मीरा हो सकती हैं, अंडाल हो सकती हैं, पेरियार, भगत सिंह, गांधी या विनोबा हो सकते हैं। इन सबने इंसान होने के मायनों का परीक्षण किया और साबित किया कि इंसान के जीवन का लक्ष्य हिंसा, अन्याय, शोषण नहीं होता है। इंसान अपने 'शरीर' से कहीं ज्यादा व्यापक इकाई है।

भरोसे का महत्व और सामाजिक अनुबंध का विस्तार

भारत के निर्माण के लिए सबसे जरूरी पहल और सर्वाधिक आवश्यक संसाधन क्या होना चाहिए? क्या ढेर सारे धन, धातुओं, कोयला, बांध, सीमेंट आदि से देश का निर्माण हो सकता है? अगर यह सब कुछ हो लेकिन इनका इस्तेमाल करने वालों में आपसी भरोसा ही न हो तो कैसा भारत बनेगा? संसाधनों का प्रबंधन या तो समाज करता है या फिर राज्य व्यवस्था करती है। समाज और राज्य व्यवस्था का मूल आधार वह शक्तियां नहीं होती हैं, जिनके आधार पर वे अपना काम करती हैं। वास्तव में समाज और राज्य व्यवस्था का मूल आधार भरोसा यानी विश्वास होता है। आमतौर पर सिद्धांतों में सम्यक अनुबंध का सिद्धांत पढ़ाया जाता है। यानी समाज एक राज्य व्यवस्था को स्वीकार्यता देता है ताकि सबकुछ प्रबंधित होता रहे।

समाज राज्य व्यवस्था को अधिकार देता है ताकि सब कुछ व्यवस्थित रहे। व्यवस्थित रखने के लिए संसाधनों की जरूरत पड़ती है, इसलिए समाज ही राज्य व्यवस्था को कर यानी टैक्स लगाने का अधिकार देता है। समाज में अराजकता न फैले, अपराध न हों, हिंसा न हो, इसके लिए समाज ही राज्य व्यवस्था को कानून बनाने और उसे लागू करने का अधिकार देता है। समाज मान्यता देता है, इसलिए कानून के आधार पर किसी को कैद में रखा जा सकता है या मृत्युदंड भी दिया जा सकता है। अगर समाज मान्यता न दे, तो राज्य व्यवस्था न तो कर ले सकती है और न ही किसी को अपराध के लिए सजा दे सकती है।

समाज राज्य व्यवस्था को अधिकार और शक्तियां देता है और इसके एवज में राज्य व्यवस्था को अपनी जिम्मेदारियां निभानी होती हैं। राज्य व्यवस्था की जिम्मेदारियां क्या हैं? यही कि किसी के साथ अन्याय न हो, अराजकता न फैले, लोग सुरक्षित रहें, कोई गरीब न रहे, भूखा न रहे, लोगों में भय न हो, लोगों को अपना धर्म मानने और अपने विचारों की स्वतंत्रता रहे और कोई उन्हें बाधित न करे। सभी को रोज़गार मिले और किसी की गरिमा को ठेस न पहुंचे। यह भी राज्य व्यवस्था की

जिम्मेदारी है कि संसाधनों का अनियोजित, अनैतिक और गैर-जवाबदेय वितरण या उपयोग न हो। राज्य व्यवस्था को यह ध्यान रखना चाहिए कि जो भी प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं, वे आज के लिए या आज की पीढ़ी के लिए ही नहीं हैं। वे आने वाली पीढ़ियों के लिए भी हैं। अतः हवा, पानी, समुद्र, जंगल, पहाड़, जानवर, कीट-पतंगे, लोहा, कोयला आने वाली पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित रहें। राज्य व्यवस्था और समाज व्यवस्था के बीच के सामाजिक अनुबंध में 'भरोसा' बहुत महत्वपूर्ण होता है।

सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत को मानवीय मूल्यों से अलग करके देखने पर पता चलता है कि जब भी मूल्यों का हास होता है, तब राज्य व्यवस्था समाज के अपराधों को और समाज राज्य व्यवस्था के अपराधों को संरक्षित करने लगता है। जब जवाबदेहिता का मूल्य तिरोहित हो जाता है, तब संसाधनों का शोषण होता है। यह भाव शेष नहीं रहता है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए कौन से संसाधन शेष रहने वाले हैं? जब बंधुता का मूल्य शेष नहीं रहता है, तब समाज छुआछूत करता है और राज्य व्यवस्था मौन रहती है। जब न्याय का मूल्य नहीं रहता है, तब जाति और सामंतवाद अपना रूप बदल कर किसी न किसी तरह बना रहता है।

देश तो स्वतंत्र हो जाता है, लेकिन व्यक्ति को बाध्य कर दिया जाता है कि वह दूसरे धर्म को अपनाए और दूसरे धर्मों के प्रतीकों को धारण करने के लिए तैयार हो। जब राजनैतिक न्याय नहीं होता है, तब स्त्री को भले ही सरपंच का पद मिल जाए, लेकिन उसके नाम के साथ बाकायदा पति का नाम विज्ञापन या नाम पट्टिका पर लिखा जाता है और पुरुष ही सरपंच की सत्ता का संचालन करते हैं। लोग देखते हैं, समाज देखता है, मुख्यमंत्री देखते हैं, भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी देखता है, पत्रकार देखते हैं लेकिन किसी को कुछ भी असहज नहीं लगता है। यह सब कुछ स्वाभाविक सा ही मान लिया जाता है।

'दया' के एक मूल्य के रूप में स्थापित होने का दावा किया जाता है, किंतु किसी भिखारी को एक समय का भोजन देते समय या पुराने कपड़े देते समय क्या मन में यह भाव आता है कि मैं कैसे इस व्यक्ति का साथ दूँ कि इसे कभी भीख न मांगना पड़े और यह गरिमा का जीवन जी सके। हमारी 'दया' के साथ व्यवस्था, छुआछूत, असमानता की यथास्थिति को बनाये रखने की 'प्रतिबद्धता' भी बरकरार रहती है। 'दया' के साथ 'न्याय' का मूल्य नहीं होता है।

‘भरोसे’ का टूटना - सविचार या आकस्मिक?

भारतीय संविधान भारत के लोगों को अपनी व्यवस्था खुद बनाने का अधिकार देने की मंशा से बनाया गया है। इसके जरिये सबको सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय देने की मंशा थी। साम्प्रदायिक और जातिवादी कड़वाहट को दूर करने के लिए बंधुता और गरिमा का तत्व जरूरी माना गया। देश की स्वतंत्रता के भीतर व्यक्ति की स्वतंत्रता को अपनाया गया। आज़ाद भारत का निर्माण बहुत बड़ा लक्ष्य था। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए धन, संसाधनों या अस्त्र-शस्त्रों से ज्यादा लोगों में भरोसे के निर्माण की जरूरत थी। भरोसा यानी लोगों में यह विश्वास पैदा करना कि उन्हें वोट देने का अधिकार तो मिला है, लेकिन वोट लेने के बाद जनप्रतिनिधि उससे धोखा नहीं करेगा। न्यायपालिका तो मिली, लेकिन यह भरोसा पैदा करने की आवश्यकता थी कि न्यायपालिका में उसके

साथ बुरा बर्ताव नहीं होगा, उसे ठेस नहीं पहुंचाई जायेगी और उसके साथ भ्रष्टाचार नहीं होगा। यह भी सुनिश्चित करना था कि उसके द्वारा चुनी गयी सरकार देश की संप्रभुता के साथ-साथ व्यक्ति की संप्रभुता यानी खुद के लिए निर्णय लेना और असंवैधानिक दखलंदाजी से मुक्ति भी सुनिश्चित करेगी। देश की लोक स्वास्थ्य व्यवस्था पर उसका भरोसा पैदा होना चाहिए था। उसे शिक्षा प्रणाली पर भरोसा होना चाहिए था। ऐसा कुछ करने की जरूरत थी कि वह देश के व्यापारियों और उद्योगपतियों पर भरोसा स्थापित कर पाता।

हम विफल रहे। जैसे-जैसे आज़ादी की उम्र बढ़ती गयी, हर तरफ 'भरोसे को तोड़ने' का काम होने लगा। औपनिवेशिक भारत से कुछ बुरे अनुभव, कुछ गहरे आघात मिले थे, उनका दायरा कम नहीं हो पाया। कई साथी 'सकारात्मक नज़रिया' अपनाने को कहते हैं। उनके मुताबिक कितना कुछ बदल गया है, कितना अच्छा हो गया है? सचमुच अब सड़कें बहुत अच्छी हो गयी हैं, बहुत बड़ी बड़ी इमारतें बन गयी हैं। देश में अनाज का उत्पादन भी चार गुना बढ़ गया है। इसके समांतर प्रश्न यह है कि क्या 'भरोसे' का विकास हो रहा है? जिस तरह की राजनीतिक और आर्थिक नीतियां अपनाई गयी हैं, उनसे भरोसा कमजोर पड़ता नज़र आता है। देश के विकास के लिए 'करों' का बहुत महत्व है, लेकिन कर व्यवस्था में कोई भी संदेश कैसे दिया जाता है, इससे मंशा स्पष्ट होती है। कम से कम कर व्यवस्था के लिहाज से तो देश का हर व्यक्ति इस वक्त शंका के दायरे में है कि वह 'कर चोर' है। इसीलिए सबको थोक में एक जैसा नोटिस भेज दिया जाता है।

शिक्षा व्यवस्था में मॉडल स्कूल, नवोदय, केंद्रीय विद्यालय जैसे कई तरह के स्कूल हैं। जब शिक्षा प्रदान करनी है तो संविदा, अतिथि, शिक्षाकर्मी जैसे अनेक प्रकार के शिक्षक क्यों होने चाहिए? सामाजिक वर्ण व्यवस्था का पूरा प्रभाव राज्य व्यवस्था पर दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि भरोसे का संकट केवल आम लोगों के लिए है। व्यापारी और उद्योगपतियों के लिए भी भरोसे का संकट है। बाज़ार में मावा लेने जाओ, तो उसके नकली होने का खयाल मन में जरूर आता है। उद्योगपतियों की बात आती है तो लगता है कि इसने जरूर अपनी पूंजी, उत्पादन और क्रेडिट में गड़बड़झाला किया होगा।

मोहल्ले में जो दुकान खुल रही है, वह हिन्दू की है या मुसलमान की, कॉलोनी में जो फ़्लैट बेचा जा रहा है, वह किस जाति या धर्म का व्यक्ति खरीद रहा है, केश शिल्पी किस जाति या धर्म का है, जिससे सब्जी खरीद रहे हैं, वह किस जाति या धर्म का है, ये ऐसे प्रश्न हैं जो सामाजिक व्यवहार में अक्सर पूछे जाते हैं। यानी भरोसे का संकट चौतरफा है।

जिज्ञासा पर से भी भरोसा उठवाया जा रहा है। 100-200 या एक हजार वर्ष पहले तो सब कुछ बन ही रहा था। इंसान का होना ही जिज्ञासा पर टिका हुआ है। धान की 10,000 किस्में मनुष्य की जिज्ञासा से ही उत्पन्न हुईं। अद्भुत वास्तुकला भी जिज्ञासा से ही उत्पन्न हुई लेकिन अब जिज्ञासा रखना नकारात्मक राजनीति है। प्रश्न पूछना अपराध माना जाने लगा है।

कौन सा बीज इस्तेमाल किया जाना है, यह भी किसान नहीं तय कर सकता है। उसे अपने ऊपर ही भरोसा नहीं करने दिया जाता है। जब जिज्ञासा नहीं होगी, तो नया क्या रचा जाएगा? अब भी यह जिज्ञासा होने की संभावना है कि रामायण और महाभारत महान साहित्य है या ऐतिहासिक सच है?

कुरान वास्तव में लिखी किसने? जिज्ञासा एक स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति है। जिज्ञासा का उद्देश्य किसी की भावनाओं को ठेस पहुंचाना नहीं होता है।

भारत जाति विभाजन से गहरे तक ग्रसित है। वर्ष 2023 में भी जब लोकतंत्र का महत्वपूर्ण आयोजन यानी चुनाव होता है, तब बड़े सामाजिक वर्ग यानी हिन्दू या मुसलमान या ईसाई के आधार पर उम्मीदवारी तय नहीं होती है। कुशवाहा समुदाय कहता है, कुशवाहा समाज को उम्मीदवार बनाइए। जैन समाज कहता है, जैन समाज के व्यक्ति को उम्मीदवार बनाइए। वैश्य समुदाय के संगठन मांग करते हैं, वैश्य को उम्मीदवारी दीजिये। मीणा समाज, करणी समुदाय, धाकड़, गुर्जर, अहिरवार की उम्मीदवारी की मांग होती है। यानी जाति का विभाजन इतना गहरा हो चुका है कि वह दूसरी उपजाति के चुने हुए प्रतिनिधि पर भी भरोसा नहीं करता है। अब हर उपजाति को यह महसूस हो रहा है कि उनका विकास या उनका हित तभी सुनिश्चित होगा, जब उनकी उपजाति या गोत्र का व्यक्ति सांसद, विधायक, मंत्री या मुख्यमंत्री बनेगा।

मीडिया की आलोचना बहुत स्वाभाविक रूप से होने लगी है। भांति-भांति की उपमाएं दी जाने लगी हैं। वैकल्पिक मीडिया के प्रयोग भी हुए। गौर से देखें तो पाएंगे कि बहुत सोच समझ कर मीडिया पर हमारे भरोसे को तोड़ दिया गया है। जो मीडिया सत्ता के साथ है, उसके साथ भी भरोसे का संकट है और जो विपक्ष में है, उसके साथ भी भरोसे का संकट है। मीडिया सही कर रहा है या गलत, यह समीक्षा तो उचित और अनिवार्य है, लेकिन मीडिया पर से भरोसा उठ जाना लोकतंत्र के लिए बहुत घातक है।

न्यायपालिका के प्रकरणों पर सवाल उठना वाजिब है, लेकिन देश की संवैधानिक इकाई के रूप में न्यायपालिका पर से भरोसा उठ जाना बेहद नुकसानदेह है।

संसद में तात्कालिक रूप से घटी घटनाओं की आलोचना और समीक्षा होना, जरूरी और अनिवार्य है, लेकिन यह भाव उत्पन्न हो जाना कि संसद के होने के कोई मायने नहीं है, यह भारत के लिए ठीक नहीं है।

हमारे विचार चाहे जो हों लेकिन संवैधानिक मूल्यों यानी बंधुता, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक न्याय, व्यक्ति की गरिमा और स्वतंत्रता और लोकतंत्र पर से भरोसा उठना सबसे खतरनाक है।

मतदान, लोकतंत्र और भरोसा

जब मतदान के अधिकार को परिभाषित करें तो इसके कई अर्थ हैं। शासन व्यवस्था में आम लोगों की कोई भूमिका होगी या नहीं, यह मतदान से ही तय होता है। आज़ाद भारत में मतदान के अधिकार की गंभीरता पर कभी लोक शिक्षण नहीं हुआ। पांच साल में बस एक बार मतदान का आह्वान होता है। जब भारत में स्वतंत्रता के राष्ट्रवादी आंदोलन प्रभावी होने लगे, तब ब्रिटिश साम्राज्य की सरकार ने यह कहना शुरू किया कि वह प्रांतीय और केंद्रीय विधान परिषद में भारतीयों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करेगी। भारत परिषद अधिनियम (1909) में परिषद के सदस्य भारतीयों द्वारा नहीं चुने जाते थे बल्कि उनका चुनाव प्रभावशाली वर्गों, जैसे जमींदारों-भू स्वामियों, उद्योग संगठनों, विश्वविद्यालयों और निकायों-बोर्ड आदि द्वारा किया जाता था। वर्ष 1919 के भारत सरकार

अधिनियम में भारतीयों के प्रतिनिधियों के चुनाव का प्रावधान किया गया था, लेकिन चुने हुए विशेष वर्गों, जैसे संपत्ति के मालिक, आयकर चुकाने वाले, भू-स्वामी होना, नगर निकाय के कर चुकाने वाले लोगों को ही मतदान का अधिकार था। इन चुनावों में मात्र 2.9 प्रतिशत लोगों को ही मतदान का अधिकार मिला था। फिर भारत सरकार अधिनियम, 1935 में व्यापक स्तर पर चुनावों की व्यवस्था की गयी। तब भी केवल 14 प्रतिशत भारतीयों को ही मतदान का अधिकार मिला था। जब शासन में लोगों का प्रतिनिधित्व ही नहीं था, तो फिर लोगों का शासन में भरोसा क्यों और कैसे होता?

हर व्यक्ति को मतदान का अधिकार लोकतंत्र का मूल आधार इसीलिए माना जाता है, क्योंकि इससे लोगों को भरोसा होता है कि उनके प्रतिनिधि सरकार में हैं और वे उनकी बेहतरी के लिए ही निर्णय लेंगे। भारत के संविधान ने पहले दिन से ही महिलाओं समेत सभी भारतीयों को मतदान का अधिकार देने का निर्णय लिया। ध्यान रहे कि अमेरिका में भी महिलाओं को मतदान का अधिकार संविधान बनने के 120 साल बाद मिला था। भारत ने जिस तरह की राजनीतिक परंपरा को अपनाया, उसमें सामंतवाद, जमींदारी और जातिवाद के तत्व नए रूपों में समाहित हुए और नए भारत के निर्माण का भरोसा पनप नहीं पाया। वास्तव में भरोसा बहुत लम्बी प्रक्रिया और कई परीक्षणों के बाद बनता है। परिस्थितियों में बदलाव, भौतिक प्रगति और नवाचारों की आंधी के बीच रूढ़िवादी व्यवस्था अपना रूप बदल कर समाज में बनी रही।

संवैधानिक राष्ट्र का नव-निर्माण और भरोसा

जब संविधान बनाया गया, तब भारत का सकल घरेलू उत्पाद मात्र 217 लाख करोड़ रुपये यानी 794 रुपये प्रति व्यक्ति था। प्रति व्यक्ति आय मात्र 230 रुपये प्रति वर्ष या 63 पैसे प्रतिदिन थी। कहीं सूखे तो कहीं बाढ़ के हालात थे और भारत को दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता था। जमींदारी, रैय्यतवारी और महालवारी की व्यवस्थाएं थी, जिनमें किसान और श्रमिक का संसाधन और उत्पादन दोनों पर ही कोई अधिकार नहीं था। संविधान इन अहितकारी व्यवस्थाओं को समाप्त करने का वायदा कर रहा था। दूसरी ओर भारत में साम्प्रदायिक टकराव और वैमनस्यता का प्रभाव था। साम्प्रदायिक दंगों में हजारों लोगों की मृत्यु हुई और संपत्तियों को नुकसान पहुंचाया गया। फिर भारत का हिंसात्मक विभाजन हुआ, जिसमें 10 लाख लोगों की मृत्यु हुई और डेढ़ करोड़ लोगों को अपना घर छोड़ना पड़ा। इस मानव निर्मित राजनीतिक-सामाजिक आपदा से क्या सीख मिलनी चाहिए? साम्प्रदायिकता और वैमनस्यता के मूल कारणों को खतम करना या उन्हें पालते-पोसते रहना? स्वतंत्र भारत में साम्प्रदायिकता और सामाजिक वैमनस्यता के भाव को निष्प्रभावी बनाने के लिए जरूरी पहल नहीं हुई। यह पहल तभी हो सकती थी और अब भी हो सकती है जब भारत के लोग, यहां की सरकारें और राजनीतिक व्यवस्था खुद पर यह भरोसा कर पाएं कि अतीत की दुर्घटनाओं को पीछे छोड़ देना चाहिए और इंसानियत के नए मानक स्थापित करने चाहिए। एक झगड़े को कोई भी प्रतिक्रिया या बदला खतम नहीं कर सकता है। जब बेहतर समाज बनाने का सपना होगा, तब 'क्षमा' में भरोसा रखना चाहिए। हम एक दूसरे में यह भरोसा पैदा नहीं कर पाए कि हमारे मन में एक दूसरे के लिए वैमनस्यता या हिंसा नहीं है। 'क्षमा और अहिंसा' को धर्म मानने वाले समाज का क्षमा और अहिंसा पर से ही भरोसा हटा दिया गया।

बीसवीं और इक्कीसवीं सदी के भारत के लोग कितने अलग हैं? संविधान 'संप्रभुता' का वायदा करता है। क्या वास्तव में इसका मतलब स्पष्ट है? दूसरे विश्व युद्ध में भारत हिस्सा लेगा या नहीं, यह निर्णय भारत ने नहीं बल्कि लार्ड लिनलिथगो ने लिया था। परंतु आज़ाद भारत का संविधान भारत को अधिकार देता है कि वह अपनी नीति, अपने निर्णय खुद ले और इसमें किसी बाहरी ताकत, सरकार या देश का दखल न हो। भारत विश्व युद्ध में भाग ले या नहीं, यह निर्णय लेने के लिए भारत के लोगों की चुनी हुई सरकार ही नहीं थी। आज़ादी का मतलब है ऐसी सरकार का होना जो भारत के लोगों की भावनाओं और मूल्यों के मुताबिक देश और विदेश की नीति बना सके। अब तो भारत के लोग विदेश नीति को एक रोमांचकारी और रहस्यमयी कहानी के रूप में ही जानते हैं।

25 नवम्बर 1949 को डॉ. बी. आर. अम्बेडकर अपना अंतिम वक्तव्य दे रहे थे। उन्होंने जान स्टुअर्ट मिल को उद्धृत करते हुए कहा, "लोकतंत्र को बनाए रखने के लिए किसी भी महान व्यक्ति के चरणों में अपनी स्वतंत्रता को चढ़ा न दें या उसे वे शक्तियां न सौंपें, जो उसे उन्हीं की संस्थाओं को मिटाने की शक्ति दे। महान व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने जीवन पर्यंत देश की सेवा की हो, कृतज्ञ होने में कोई बुराई नहीं है। पर कृतज्ञता की भी सीमा है।"

उन्होंने आगे कहा कि आयरलैंड के देशभक्त डेनियल ऑ कॉनेल ने इस विषय में ठीक ही कहा है कि अपने सम्मान को खोकर कोई पुरुष कृतज्ञ नहीं हो सकता, अपने सतीत्व को खोकर कोई स्त्री कृतज्ञ नहीं हो सकती और अपनी स्वतंत्रता को खोकर कोई राष्ट्र कृतज्ञ नहीं हो सकता। किसी अन्य देश की अपेक्षा भारत के लिए यह चेतावनी अधिक आवश्यक है। क्योंकि भारत में भक्ति या जिसे भक्ति मार्ग या वीर पूजा कहा जाता है, उसका भारत की राजनीति में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, जितना किसी अन्य देश की राजनीति में नहीं है। धर्म में भक्ति आत्म-मोक्ष का मार्ग हो सकता है; पर राजनीति में भक्ति या वीर पूजा पतन तथा अंततः तानाशाही का एक निश्चित मार्ग है।

डॉ. अम्बेडकर ने ऐसा क्यों कहा था? क्या उनका कहना सही था? जब देश और देश के लोगों का भरोसा मतदान सरीखी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया पर टिका न रह पाए, तब वह किसी एक व्यक्ति में भरोसा खोजता है और मानने लगता है कि वही उसका और देश का उद्धार करेगा। एक व्यक्ति को सत्ता का केंद्र बनाने के लिए राजनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से ही आम लोगों में से 'भरोसे' की ग्रंथि को निकाल कर फेंक देना होता है। उसी दिन यानी 25 नवम्बर 1949 को ही डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने भी यही कहा था कि इस संविधान में कोई प्रावधान हो या न हो, देश का कल्याण उस रीति पर निर्भर करेगा, जिसके अनुसार देश का प्रशासन किया जाएगा। डॉ. प्रसाद का साफ़ कहना था कि "हमें यह मान लेना चाहिए कि दोष तो अधिकतर अवाम, देश की परिस्थिति और जनता में है। जिन व्यक्तियों का निर्वाचन किया जाता है, यदि वह योग्य, चरित्रवान और ईमानदार हैं तो वे एक दोषपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम संविधान बना सकेंगे। यदि उनमें इन गुणों का अभाव होगा तो यह संविधान देश की सहायता नहीं कर सकेगा। हममें साम्प्रदायिक भेद हैं, जातिगत भेद हैं, भाषा के आधार पर भेद हैं और इसी प्रकार के अन्य भेद हैं। इसके लिए ऐसे दृढ़ चरित्र व्यक्तियों की, ऐसे दूरदर्शी लोगों की और ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो छोटे-छोटे समूहों और क्षेत्रों के लिए पूरे देश के हितों का परित्याग न करें और जो इन भीड़ों से उत्पन्न पक्षपात से परे हों।"

23 नवम्बर 1949 को संविधान सभा में बलवंत सिंह मेहता ने कहा था, “संविधान को हम जितना अच्छा बना सकते थे, बनाया है। अब हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी कान्स्टीट्यून्सीस में जाएं और इस विधान को हम अपने गांवों में लोगों को समझाएं, जहां हमारा कार्यक्षेत्र है। शिक्षा व प्रचार के अभाव में कभी-कभी जनता में बड़ी गलतफहमी फैल जाती है। आम जनता के लिए स्वराज्य और संविधान का यही मतलब है कि उन लोगों को खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़ा, रहने के लिए मकान और शिक्षा मिले।”

पंडित बाल कृष्ण शर्मा ने कहा था, “इस संविधान की आत्मा कहां है? प्रश्न यह है कि इस संविधान को कौन कार्यान्वित करेगा, जो इस संविधान को कार्यान्वित करेगा, वह एक निष्कलंक, पवित्र और सुसंगठित राजनैतिक पक्ष होगा या उपद्रवी मनुष्यों का कोई गिरोह होगा?”

संविधान के मूल में एक इच्छा और एक लक्ष्य था। वह लोगों में यह भरोसा पैदा करना चाहता था कि देश भी आज़ाद हुआ है और लोग भी आज़ाद हुए हैं। अब जब वे अपने लिए सरकार चुनेंगे तो वह सरकार ऐसी सड़कें बनाएगी, जिन पर स्त्रियां भी बेखौफ चल सकेंगी। देश में आय की असमानता खत्म होगी और प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग का उन्हें पूरा अधिकार मिलेगा। लोगों को भरोसा था कि अब तो अपने ही लोग सरकार का प्रबंधन करते हैं, उनसे वे सवाल-जवाब कर सकेंगे। वो तो ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेशवाद था, जहां भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं होता था, उन्हें अपनी बात कहने या सरकार की आलोचना करने का अधिकार नहीं था। भारत को लोगों के लोग संगठित होकर अपने गांव, देश या स्वयं के अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं कर सकते थे। ऐसे में संविधान भारत के लोगों से यह वायदा करता है कि स्वतंत्र देश में लोग भी स्वतंत्र होंगे और सरकार की आलोचना कर सकेंगे।

भक्ति भाव होने और भरोसा होने में मूलभूत अंतर होता है। भक्ति तर्क और जिज्ञासा को अपने लिए चुनौती मानती है, जबकि जिज्ञासा और तर्क से ही भरोसे का परीक्षण होता है। भरोसा कभी भी जिज्ञासा, तर्क और अनुभव के प्रति मौन रहने का आग्रह नहीं करता है।

शरीर का विज्ञान और मूल्यों का विज्ञान

इंसानी शरीर भी एक व्यवस्था से ही संचालित होता है। इस व्यवस्था के हर अंग की अपनी भूमिका है। हर अंग की भूमिका अपरिहार्य है, अनिवार्य है। और हर अंग एक दूसरे की भूमिका के साथ मिलकर अपनी भूमिका निभाता है। जैसे ही परस्परता पर आधारित सम्बन्ध कमज़ोर पड़ना शुरू होते हैं, व्यक्ति का शरीर कमज़ोर होना शुरू हो जाता है। सामान्य तौर पर हृदय, मस्तिष्क, यकृत, किडनी ही महत्वपूर्ण माने जाते हैं, लेकिन ज़रा सोचिये कि आँखों की पलकें कमज़ोर पड़ जाएँ और उनके खुलने-बंद होने में रुकावट आने लगे, तब क्या होगा? अगर उँगलियों में नाखून न हों या निकल जाएँ, तब क्या स्थिति बनेगी? त्वचा भी एक अंग है और अगर त्वचा कमज़ोर पड़ जाए, तब क्या होगा? व्यवस्था का मतलब होता है परस्परता को अपनाना और परस्परता को स्वाभाविक बना लेना। इंसान के भीतर की व्यवस्था हो या बाहर की व्यवस्था, विश्वास और परस्परता के बिना वह हितकारी नहीं हो सकती है।

यह अक्सर होता है कि मूल्यों की बात को आदर्श या आध्यात्म की बात मान लिया जाता है। यह भी मान लिया जाता है कि मूल्यों का विषय महान लोग, देवी-देवता या संत-इमाम के दायरे का विषय है। मानव के लिए 'मानवीय मूल्यों' का अर्थ इंसानी शरीर की व्यवस्था से भी पहचाना जा सकता है। इंसान के शरीर में रक्त होता है। सभी जानते हैं कि यह बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसलिए क्योंकि जब चोट लगती है तो खून निकलता है, जब कोई बीमार पड़ता है तो उसे अन्य व्यक्ति से खून लेकर भी चढ़ाया जाता है। अगर स्कूल गये हैं तो इतना भी पता होता है कि रक्त में लाल और सफ़ेद कोशिकाएं होती हैं। इनका भी संतुलन बने रहना जरूरी होता है। लेकिन रक्त में एक और कोशिका होती है, जिसे प्लेटलेट कहा जाता है। यह कोशिका खून को थक्का ज़माने में मदद करती है। अगर प्लेटलेट कम हो जाते हैं, तो रक्त स्राव की आशंका बढ़ जाती है। यह आशंका इतनी बढ़ जाती है कि शरीर के अलग-अलग हिस्सों में खून रिसने लगता है। चोट लगती है तो चोट के स्थान पर भी खून जम जाता है और उसका बहाव रुक जाता है। अगर प्लेटलेट कम हों तो रक्त का बहाव रोक नहीं जा सकता है। हमें प्लेटलेट दिखते नहीं हैं, लेकिन उनका अपना काम है, उनकी अपनी विशेषता है और उनका महत्व इतना ज्यादा है कि जीवन की सुरक्षा भी उन पर निर्भर रहती है। जब व्यक्ति बीमार होता है, तब प्लेटलेट कम हो जाते हैं और खून की थक्का ज़माने की क्षमता कम हो जाती है। शरीर को स्वस्थ रखने में प्लेटलेट्स महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं हम चोट को और चोट पर खून को जमते हुए देख पाते हैं, लेकिन प्लेटलेट्स की भूमिका नहीं देख पाते हैं। क्या इसका मतलब यह है कि हमें प्लेटलेट्स की जरूरत नहीं है?

प्राणवायु यानी हवा या आक्सीजन तो कहीं दिखाई नहीं देती है, लेकिन उसे महसूस तो किया ही जाता है। वह दिखाई नहीं देती है, लेकिन जीवन के लिए वह अनिवार्य है। हम सब 'कैल्शियम' के बारे में जानते हैं। यह हड्डियों को मज़बूत बनाता है। उन्हें कमज़ोर नहीं होने देता है। जब कैल्शियम की कमी होती है, तब हड्डियां कमज़ोर होती हैं। हम अपनी हड्डियों का खूब इस्तेमाल करते हैं, लेकिन हमें यह याद नहीं रहता है कि कैल्शियम अपना काम कर रहा है।

हमने अक्सर 'विटामिन-डी' के बारे में भी सुना होगा। हम अपने शरीर का खूब इस्तेमाल करते हैं। भागते हैं, दौड़ते हैं, पहाड़ चढ़ते हैं, नदी पार करते हैं, खेत जोतते हैं, खेल खेलते हैं। जो अच्छा दौड़ता है, खेलता है, पहाड़ चढ़ता है या खूब शारीरिक श्रम करता है, उसकी सराहना होती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी व्यक्ति ये काम इसलिए कर पाता है क्योंकि उसकी मांसपेशियां और हड्डियां बहुत मज़बूत होती हैं। ये मज़बूत होती हैं क्योंकि 'विटामिन - डी' इंसान के शरीर में अपना काम करता है। विटामिन डी सूरज की रोशनी से मिलता है। क्या हम सूरज की रोशनी में विटामिन डी को देख पाते हैं? नहीं देख पाते हैं। इसे नहीं देख पाने, नहीं छू पाने के बावजूद यह अपना काम करता है। जब इसकी कमी हो जाती है, तब हमें बताया जाता है कि हमारी हड्डियां और मांसपेशियों के कमज़ोर होने का कारण विटामिन डी की कमी है।

कैल्शियम दूध से मिलता है, लेकिन क्या दूध में कैल्शियम दिखाई देता है? यह दिखायी नहीं देता, लेकिन होता है और हमारे शरीर में अपनी भूमिका निभाता है। दूध से कैल्शियम को निकाल कर हड्डियों में पहुंचाने का काम विटामिन डी करता है, लेकिन वह सूरज की धूप में दिखाई नहीं देता है। जब इनकी कमी होती है, तब इंसान को दर्द होता है, उसकी हड्डियां कमज़ोर होती हैं, टूटने लगती हैं। जब समस्या आती है, तब इनके महत्व का अहसास होता है।

व्यक्ति को चिड़चिड़ाहट होती है, थकान होती है, चलने में तकलीफ होती है, निराशा होती है। ऐसा विटामिन बी 12 की कमी के कारण होता है। यह विटामिन मुख्य रूप से पशु उत्पादों से प्राप्त होता है। थकावट, निराशा, चिड़चिड़ाहट तो महसूस होती है, लेकिन हमें यह नहीं पता चलता कि ऐसा विटामिन बी 12 की कमी के कारण हो रहा है। विटामिन बी 12 दिखाई नहीं देता है, लेकिन उसका महत्व होता है और अंडे या दूध में भी वह यूं तो दिखाई नहीं देता, लेकिन होता तो है।

शरीर के सही ढंग से काम करने में मैग्नीशियम नामक खनिज की अहम भूमिका होती है। खासकर तंत्रिका तंत्र की व्यवस्था को बनाये रखने में। इसी तरह पोटेशियम का स्तर असंतुलित होने पर दिल की धड़कनें असामान्य हो जाती हैं। हो सकता है कि इससे हृदयाघात भी हो जाए।

इंसानी शरीर में कई ग्रंथियां होती हैं और ये ग्रंथियां अलग-अलग हार्मोस का उत्पादन करती हैं। मस्तिष्क सेरोटोनिन नाम के हार्मोन का उत्पादन करता है। यह व्यक्ति की मनोदशा और तनाव को नियंत्रित करता है। इसकी कमी से अवसाद, सिरदर्द, नींद न आने जैसी समस्याएं होती हैं। जब व्यक्ति तनाव में होता है, तब कोर्टिसोल का स्तर बढ़ता है ताकि तनाव को नियंत्रित किया जा सके। तनाव होने पर जब यह हार्मोन पैदा नहीं होता है तब शराब पीने की आदत, लगातार थकान और भयभीत होने की स्थिति निर्मित होती है।

आक्सीटोसिन हार्मोन के कारण प्रेम का अहसास होता है। जब प्रेम होता है, तब यह हार्मोन पैदा होता है। जब व्यक्ति को कोई उपलब्धि हासिल होती है, तब डोपामाइन हार्मोन पैदा होता है। उससे खुशी का अहसास होता है। जब व्यक्ति आनंद की अवस्था में होता है, तब वह अच्छी नींद क्यों ले पाता है? क्योंकि तब एंडोर्फिन हार्मोन पैदा होता है। यही हार्मोन खुशी और आनंद के पलों को महसूस कराता है।

इंसानी शरीर के अंगों के काम करने, सोचने, विचारने, सकारात्मक होने, नकारात्मक होने में कई खनिजों, विटामिन, प्रोटीन और हार्मोस की भूमिका होती है। ये हमें दिखाई नहीं देते हैं, लेकिन इंसान के जीवन को यही चलाते हैं। हम इन्हें महत्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि शरीर और मस्तिष्क पर इनके प्रभाव को जांचा-परखा जाता है। इनके परीक्षण किए जाते रहे हैं।

जब विटामिन, खनिजों, प्रोटीन और हार्मोस में कमी या उतार-चढ़ाव होता है, तब व्यक्ति बीमार होता है, उदास होता है और उसकी जीवंतता कम होती है। जब ये समस्याएं होती हैं, तब व्यक्ति अपने भीतर दर्द को, बीमारी के प्रभाव को महसूस कर पाता है। जब वह दर्द को महसूस करता है, तब उपचार की पहल करता है। ठीक इसी तरह जब व्यक्ति या समाज में मूल्यों का हास होता है, मूल्यों में असंतुलन आता है, तब वैमनस्यता बढ़ती है, हिंसा बढ़ती है। बस अंतर यह है कि व्यक्ति या समुदाय इस सामाजिक बीमारी के दर्द को महसूस नहीं कर पाते हैं। सामाजिक जीवन में मूल्यों के हास के प्रभाव को महसूस करना सिखाया नहीं जाता है।

मानवीय मूल्य भी इंसान के भीतर कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में मौजूद रहते हैं। यही कारण है कि इंसानी इतिहास में कबीर, मार्टिन लूथर किंग, ईसा मसीह, आदि शंकराचार्य, बुद्ध, महात्मा गांधी के उदाहरण मौजूद हैं। जिस तरह विटामिन, खनिज और हार्मोन दिखानी नहीं देते हैं, लेकिन इंसान की हड्डियों से लेकर खुशी तक को संचालित करते हैं, वैसे ही मानवीय मूल्य भी भले ही दिखाई न

देते हों, लेकिन मूल्य ही इंसान के व्यवहार का प्रबंधन करने वाले बुनियादी तत्व होते हैं। जब आपसी रिश्तों में पारस्परिकता, खुशहाली, बेहतर समाज के निर्माण, गरिमा और प्रतिष्ठा के अहसास और समानुभूति का व्यवहार किया जाता है, तब 'मानवीय मूल्य' ही सबसे अहम भूमिका निभाते हैं। विटामिन, खनिज, प्रोटीन, हार्मोन अपनी गरिमा, प्रतिष्ठा, खुशी, दुःख, अवसाद के प्रति हमें सजग बना सकते हैं, लेकिन व्यक्ति के मूल्य उसे दूसरों की गरिमा, सम्मान, खुशी, दुःख, अवसाद के प्रति सजग बनाते हैं।

भरोसे का धम्म - गौतम बुद्ध की व्याख्या

स्वाभाविकता ही मूल्यों को अंगीकार किये जाने की आधारभूत जरूरत है। हर वस्तु, हर व्यक्ति, प्रकृति के हर तत्व का अपना एक मूल स्वभाव होता है। वह स्वभाव उसकी प्रकृति से जुड़ा होता है। नीम का स्वाद कड़वापन है। करेले का स्वाद भी कड़वापन है, लेकिन नीम और करेले की पृवृत्ति नकारात्मक नहीं है। कड़वा होने के बाद भी उसका स्वभाव इंसान के लिए लाभदायक है। इसका आशय यह हुआ कि केवल सामने दिखने वाले भाव के आधार पर ही किसी के बारे में निर्णय नहीं ले लेना चाहिए, उसके स्वभाव को जानना जरूरी होता है। स्वभाव को जान लेने से ही भरोसा का आधार निर्मित होता है।

बाघ एक बलशाली जीव है, जो शिकार करके अपना जीवन जीता है। वह अपने और अपने परिवार के भोजन की जरूरत को पूरा करने के लिए ही शिकार करता है, संग्रहण करने या आतंक फैलाने के उद्देश्य से हिंसा नहीं करता है। उसका अपना एक भौगोलिक दायरा भी होता है। इंसान अपने अनुभवों से बाघ का स्वभाव जान लेता है और उसी के अनुसार व्यवहार भी करता है। वह बाघ के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा गाय या हिरन के साथ करता है। वह बाघ की स्वाभाविकता को जान लेता है।

मानवीय मूल्यों का जुड़ाव इंसान की स्वाभाविकता से होता है। उसकी सत्ता और नियंत्रण करने की आकांक्षा उसकी स्वाभाविकता को लील जाती हैं। वास्तव में मूल्यों के अंगीकार किये जाने के लिए जीवन व्यवहार की स्वाभाविकता (इंसान का मूल स्वभाव क्या है? उसकी मूल प्रकृति और पृवृत्ति क्या है?) को जाना बहुत जरूरी होता है। दोहरा चरित्र कभी भी लोगों को एक दूसरे में विश्वास पैदा नहीं होने देता है और जब तक परस्पर विश्वास न हो, तब तक बंधुता, एकता और अखंडता की कल्पना नहीं की जा सकती है।

गौतम बुद्ध कुछ ऐसे बुनियादी विश्लेषण करते हैं, जो यह बताते हैं कि 'धम्म' और 'धर्म' में अंतर होता है। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करना है, जबकि धम्म का उद्देश्य संसार का पुनर्निर्माण करना है। धर्म इन प्रश्नों के उत्तर खोजता है - संसार शाश्वत है या नहीं? संसार असीम है या नहीं? क्या आत्मा और शरीर एक ही हैं? क्या वह मृत्यु के बाद रहता है या नहीं? जबकि धम्म का उद्देश्य यह बताना होता है कि दुःख क्या है? दुःख के कारण क्या हैं? दुःख का निदान क्या है? धर्म जिन प्रश्नों के उत्तर खोजता है, उनसे सदाचरण, वासना के शुद्धि, सत्ता और नियंत्रण की आकांक्षा से मुक्ति और मोक्ष के मार्ग में कोई योगदान नहीं रहता।

बुद्ध मानते हैं कि धर्म में नैतिकता या सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों का स्थान इसलिए नहीं रहता है क्योंकि धर्म केवल ईश्वर, आत्मा सरीखे अमूर्त तत्वों को अपने बाहर खोजने के लिए प्रेरित करता है, जबकि नैतिकता या नैतिक मूल्यों का मूल आधार तो स्वयं की स्वाभाविकता, स्वयं के व्यवहार और स्वयं के मूल्यों के प्रति चेतना विकसित करना होता है। धर्म समाज को वर्गों में विभाजित करता है और फिर अपने वर्ग की श्रेष्ठता को स्थापित करने का युद्ध छेड़ देता है और समाज के अलग-अलग समूह उस युद्ध को असीमित काल तक लड़ते रहते हैं।

गौतम बुद्ध ने मानवीय मूल्यों की स्थापना और समतामूलक समाज के निर्माण को 'धम्म' के माध्यम से ही परिभाषित किया। व्यक्ति में मूल्यों की जितनी परते होंगी, समाज उतना ही शांतिमय और समान होगा।

धम्म का मतलब क्या है? धम्म का मतलब है अंगीकार करना, अपनाना, अपने स्वभाव का हिस्सा बनाना। बुद्ध के अनुसार 'धम्म' जीवन जीने का एक ऐसा तरीका होता है, जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है और दुनिया को, व्यक्ति की प्राकृतिक (नैसर्गिक) अवस्था को बनाये रखता है। इसे प्रकृति के नियम के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। सम्राट अशोक ने भी बौद्ध धर्म अपनाने के बाद धम्म को परिभाषित किया। अशोक ने दुनिया को सन्देश देने के लिए शिलालेख स्थापित करवाए थे। उनमें से एक शिलालेख में धम्म का अर्थ बताया गया था - साधुता, जीवन भर कल्याणकारी कार्य करना, पाप रहित होना, मृदुता, अन्य जीवों के प्रति मधुरता, दया, करुणा, दान और शुचिता को अपनाना; प्राणियों का वध न करना, जीव हिंसा न करना, वरिष्ठों का सम्मान करना, दास और भृत्यों से उचित व्यवहार करना; एक अन्य शिलालेख में अल्प व्यय और अल्प संग्रह को भी धम्म माना गया। इसके साथ ही सम्राट अशोक ने यह भी परिभाषित करने की कोशिश की कि क्या 'धम्म' नहीं है - चंडता, कठोरता या निष्ठुरता, क्रोध, अहंकार और ईर्ष्या। व्यक्ति का केवल अपने अच्छे कामों को देखना और बुरे कामों को नहीं देखना, धम्म के मार्ग को अपनाने में बड़ी बाधक प्रवृत्ति है।

जब गौतम बुद्ध से पूछा गया कि धम्म सधम्म (जीवन जीने का सार्थक तरीका) कब होता है? मानवीय मूल्य ही जीवन का आधार हैं और मानवीय मूल्यों को साधने के लिए अपने स्वभाव, आदतों, जीवन के उद्देश्यों और सामाजिकता के अर्थ को समझने की जरूरत होती है। जिन्दगी की आवश्यकताओं, समृद्धि की दौड़, सत्ता की प्रवृत्ति और पहचान के गौण हो जाने के कारण 'मूल्यों' का महत्व कम हो गया है। गौतम बुद्ध 'मूल्यों' को 'अमूर्त' नहीं बल्कि मूर्त मानते हैं। जब यह प्रश्न किया जाता है कि 'धम्म' (धर्म) कब 'सधम्म' होता है, तब वे मूल्यों को ही सधम्म का आधार बताते हैं। बुद्ध के नज़रिये से समानता, बंधुता, करुणा, मैत्री, परस्परता, सह-अस्तित्व ही 'सधम्म' के मूल तत्व हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि वे मूल्यों को समग्रता में देखते-पहचानते हैं। किसी एक मूल्य का अकेला अस्तित्व नहीं होता। सबको शिक्षा मिलना चाहिए, यह सभी का अधिकार है। परंतु शिक्षा के साथ शील महत्वपूर्ण है। शीलवान होने के साथ करुणा का होना जरूरी है और करुणा के साथ मैत्री का होना अहम है। मूल्यों की पहचान समाज के चरित्र से होती है। अगर समाज में सबको शिक्षा, सबको सम्मान, सबको गरिमामय जीवन हासिल है, तो मूल्यों की पुष्टि हो जाती है। 'भगवान् बुद्ध और उनका धम्म' में गौतम बुद्ध की अनुभूतियों की व्याख्या की गई है।

सबको ज्ञान

गौतम बुद्ध की स्पष्ट धारणा थी कि धम्म तभी सधम्म है, जब वह सभी के लिए ज्ञान का द्वार खोल दे।

जिस वक्त बुद्ध ने यह बात कही थी तब इस ब्राह्मणवादी सिद्धांत पर बहुत जोर था कि ज्ञान प्राप्ति का द्वार सभी के लिए नहीं खोला जा सकता है। वह अनिवार्य तौर पर कुछ लोगों तक ही सीमित रहना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ज्ञान पाने की अनुमति प्रदान की गयी थी। इन तीन वर्गों में भी स्त्रियों को ज्ञान प्राप्ति की अनुमति नहीं थी। शूद्रों में स्त्री और पुरुषों, दोनों को ही ज्ञान प्राप्ति की अनुमति नहीं थी। बुद्ध ने इस सिद्धांत का विरोध किया।

ज्ञान के साथ प्रज्ञा

गौतम बुद्ध ने माना कि केवल 'विद्या' ही अपने आप में संपूर्ण नहीं है। शिक्षित और विद्वान व्यक्ति तभी सम्मान के योग्य है, जब वह 'शीलवान' हो। गौतम बुद्ध विद्वता के लिए चार गुण महत्वपूर्ण मानते हैं -

1. जिस व्यक्ति में ज्ञान और विद्वता है, लेकिन जो बहुत से लोगों के कल्याण और सुख के लिए समर्पित है।
2. जिस विषय में वह मन लगाना चाहता है, उसमें मन लगा सकता है और जिस विषय में मन नहीं लगाना है, उसमें मन नहीं लगाता है।
3. जिस संकल्प को मन में उत्पन्न होने देना चाहता है, उसे उत्पन्न होने देता है और जिस संकल्प को उत्पन्न नहीं होने देना चाहता है, उसे उत्पन्न नहीं होने देता है। वह चित्त का स्वामी होता है।
4. वह चारों लोकों से इतर होकर ध्यान को प्राप्त कर सकता है। वह इस जीवन के आश्रव (कर्म के पीछे मन और शरीर को प्रभाव को संदर्भित करने वाला तत्व) का क्षय करना जानता है।

प्रज्ञा के साथ शील

इसके बाद बुद्ध कहते हैं कि धम्म सधम्म तभी होता है जब 'प्रज्ञा' के साथ 'शील' भी हो। अकेली प्रज्ञा खतरनाक है। यह दोधारी तलवार है। इसका उपयोग और दुरुपयोग दोनों होता है। प्रज्ञा तभी कल्याणकारी है, जब शील भी उसके साथ हो। शील का मतलब है-जीव हिंसा न करना, चोरी न करना, मिथ्याचार/कामभोग से परे होना, झूठ न बोलना और नशीले पदार्थ का सेवन न करना। ज्ञान का उपयोग व्यक्ति के शील (उसके चरित्र, स्वभाव, मूल्यों, मंशा) पर निर्भर करता है।

गौतम बुद्ध कहते हैं कि शील ही आरम्भ है, शील ही शरण स्थान है, शील ही सभी अच्छाइयों की जननी है।

शील के साथ करुणा

धम्म तभी सधम्म है जब प्रज्ञा और शील के साथ करुणा भी होती है। तथागत का संसार में आने का उद्देश्य दरिद्रों, असहायों और अरक्षितों का मित्र बनना, सेवा करना, सहायता करना और सभी को

ऐसा करने की प्रेरणा देना था। करुणा ही व्यक्ति को समाज से जोड़ती है और जीवन को सार्थक बनती है।

करुणा के साथ मैत्री

करुणा का होना ही पर्याप्त नहीं है। इससे भी ज्यादा जरूरी है मैत्री का होना। करुणा का मतलब है 'मानव मात्र' से प्रेम करना; जबकि मैत्री का अर्थ है सभी प्राणियों से प्रेम करना। प्रकृति में जो कुछ भी है, उससे प्रेम करना। केवल मनुष्यों से प्रेम करना ही पर्याप्त नहीं है। केवल करुणा से ही संतोष नहीं होना चाहिए। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए। बुद्ध उदाहरण देते हैं कि अगर कोई पृथ्वी को खोदने जाए, तो क्या पृथ्वी उसका विरोध करेगी? नहीं करेगी, लेकिन पृथ्वी भी तो जीवित प्रकृति का ही अंग है। तब पृथ्वी के प्रति मैत्री भाव होना चाहिए।

अगर कोई गंगा नदी को मशाल से जलाना चाहे, तो क्या वह जला सकता है? नहीं जला सकता क्योंकि गंगा नदी के जल में जलने का गुण नहीं है।

क्या हवा है? हां, है। क्या हवा को देखा या नियंत्रित किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। क्या हवा को महसूस किया जा सकता है? हां, महसूस किया जा सकता है। क्या कोई हवा पर चित्र बना सकता है? नहीं बना सकता, क्योंकि उसमें कोई काला-खंड या सतह नहीं है।

जैसे पृथ्वी आघात अनुभव नहीं करती और विरोध नहीं करती, जिस प्रकार हवा की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, जैसे गंगा नदी का जल जलता नहीं है, उसी प्रकार व्यक्ति को भी अपमान, आघात, प्रतिक्रिया, अन्याय होने पर भी 'मैत्री' भाव बनाए रखना चाहिए।

मैत्री की परिधि, ब्रह्माण्ड की तरह असीम होना चाहिए। इतनी विशाल होना चाहिए कि उसे मापा न जा सके।

केवल करुणा का अभ्यास ही पर्याप्त नहीं है। मैत्री का अभ्यास भी अनिवार्य है।

विभाजन की समाप्ति

धम्म तभी सधम्म हो सकता है, जब आदमी और आदमी के बीच की दीवार गिरा दे। गौतम बुद्ध समाज की वेदों की परिभाषा, वर्ण व्यवस्था और समाज विभाजन के सिद्धांतों से असहमत थे। वास्तव में समाज के स्तरीकरण (जाति, लिंग, वर्ण, नस्ल, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि) के आधार पर बनाई गई सामाजिक व्यवस्था के कारण मनुष्य कभी भी अपने वास्तविक 'स्वरूप' और 'स्वभाव' जान नहीं पाता है।

आदर्श समाज

ऐसा समाज, जिसमें सबके लिए विद्या हो, शील हो, करुणा हो, मैत्री हो और जिसमें जातिवाद, असमानता, ऊंच-नीच का भेद न हो। सब बराबर हों। वही आदर्श समाज होता है। आदर्श समाज तभी स्थापित हो सकता है, जब अलग-अलग मानवीय मूल्यों को एकाकी रूप में न देखा जाए। वास्तव में

सभी मूल्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। समता के बिना गरिमा नहीं हो सकती है और गरिमा के बिना बंधुता नहीं हो सकती है और बंधुता के बिना लोकतंत्र नहीं हो सकता है।

गुण

धम्म तभी सधम्म होता है, जब वह यह संदेश दे कि किसी का मूल्यांकन 'जन्म' से नहीं बल्कि 'गुणों' से किया जाना चाहिए। इसका मतलब है कि हर व्यक्ति में अपना जीवन खुद रचने, खुद निर्मित करने की क्षमता मौजूद है। लेकिन जब "जन्म" के आधार पर व्यवस्था बनाई जाती है, तब उसकी जीवन निर्माण कर पाने की क्षमताएं समाप्त कर दी जाती हैं। "जन्म" के आधार पर बनी हुई व्यवस्थाएं व्यक्ति को खुद अपने जीवन के निर्माण की कोशिश को बहुत कठिन बना देती हैं।

समानता

धम्म तभी सधम्म होता है, जब वह आदमी और आदमी के बीच समानता को बढ़ावा देता है। वैसे तो व्यक्ति असमान ही जन्म लेता है। कुछ हष्ट-पुष्ट होते हैं, कुछ कमजोर होते हैं, कुछ अधिक बुद्धिमान और कुछ कम बुद्धिमान होते हैं, कुछ ज्यादा सामर्थ्यवान होते हैं, कुछ कम सामर्थ्यवान होते हैं। कुछ धनी होते हैं, कुछ गरीब होते हैं। यदि इस असमानता को स्वाभाविक और अनिवार्य मान लिया जाए तो सबसे वंचित और गरीब का कोई ठिकाना न रहेगा। असमानता को नियम नहीं मानना चाहिए। समाज को समानता के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए।

सार और निष्कर्ष

भारत का संविधान जिस तरह की राज्य और सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करता है, उसके मूल में लोकतन्त्र, न्याय, बंधुता, गरिमा और स्वतंत्रता के संवैधानिक मूल्य हैं। संविधान सभा में यह बार-बार कहा भी जाता रहा कि एक अच्छा संविधान बना देने से अच्छी व्यवस्था बन जायेगी, ऐसा कोई दावा नहीं किया जा सकता है। यह तो समाज और लोगों के मूल्यों पर निर्भर करता है कि वह कैसा देश और कैसी व्यवस्था बनाना चाहते हैं?

अगर लोगों का विश्वास सामाजिक समरसता में होगा, तो सभी समुदाय एक-दूसरे में भरोसे का निर्माण करेंगे और यदि समाज वैमनस्यता चाहेगा तो एक-दूसरे के भरोसे को तोड़ा जाएगा। जिस तरह से रामायण के लिख दिए जाने से रामराज्य नहीं बनता है, जिस तरह से महाभारत के रच दिए जाने से धर्मराज्य नहीं बनता है, उसी तरह संविधान लिख दिए जाने से लोकतन्त्र और बंधुता की स्थापना नहीं होती है। इसके लिए लोगों को, शिक्षकों को, राजनीतिज्ञों को, लेखकों को, किसानों, मजदूरों को, धर्म-गुरुओं को व्यापक वैचारिकता और पारस्परिक भरोसे को कायम करने पर काम करने की जरूरत है। यही सबसे बुनियादी पहल है कि हम भरोसे के माहौल का निर्माण करें। लोगों का लोगों पर भरोसा, लोगों का सरकार पर और सरकार का लोगों पर भरोसा, न्यायपालिका, जनसंचार माध्यमों, शिक्षकों में भरोसा और संविधान में समाज का भरोसा होना।